वेदमंत्रमें देवोंका निवास।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥
ऋग्वेद १।१६४।३९; अथर्ववेद ९।१०।१८

"परम आकाशमें रहनेवाले सब देव ऋचाओं- वेदमंत्रोंके अक्षरोंमें बैठे हैं। इस बातको जो नहीं जानता, वह वेदमंत्र लेकर क्या करेगा? जो इस बातको जानते हैं वे संघटित होकर उच्च स्थानमें बैठते हैं।"

मुद्रक तथा प्रकाशक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
भारतमुद्रणालय, औंध (जि० सातारा.)

अथर्ववेद का स्वाध्याय।

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

नवम काण्ड।

इस नवम काण्डका प्रारंभ 'दिवः' शब्दसे हुआ है। इसका अर्थ 'प्रकाशमय' स्वर्गलोक है। प्रकाशमय लोक मंगल है अतः इस काण्डका प्रारंभ मंगल शब्दसे हुआ है। इस सूक्तकी देवता 'मधु' अर्थात् मीठास है। जिस सूत्रात्मासे यह संपूर्ण विश्व बंधा गया है उस मधुर सूत्रका वर्णन इस मंत्रमें होनेसे इस काण्डका प्रारंभ मंगलके वर्णनसे हुआ है, इसमें संदेह नहीं है।

इस काण्डमें ५ अनुवाक, १० सूक्त और ३०२ मंत्र हैं। इनका विभाग इस प्रकार है।

अनुवाक	सूक्त	दशतिविभाग	पर्याय	मंत्रसंख्या	कुलसंख्या
१	१	१०+१४		२४	
	२	१०+१०+५		२५	४९
२	३	१०+१०+११		३१	
	४	१०+१४		२४	५५
३	५	१०+१०+१०+८		३८	
	६	——	६	६२	१००
४	७	——	१	२६	
	८	१०+१२		२२	४८
५	९	१०+१२		२२	
	१०	१०+१०+८		२८	५०
				३०२	३०२

इस काण्डमें १० सूक्त हैं, उनके ऋषि देवता छन्द देखिये—

सूक्तोंके ऋषि-देवता-छन्द।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
प्रथमोऽनुवाकः।				
विंशः प्रपाठकः।				
१	२४	अथर्वा	मधु अश्विनौ	त्रिष्टुप् २ त्रिष्टुब्गर्भा पंक्तिः;३ परानुष्टुप्; ६ महाबृहती अतिशक्वरगर्भा; ७ अति जागतगर्भा महाबृहती;८ बृहतीगर्भा संस्तारपंक्तिः, ९ पराबृहती प्रस्तारपंक्तिः; १० पुरोष्णिक्पंक्तिः; ११-१३, १५, १६, १८, १९ अनुष्टुभः; १४ पुरउष्णिग्; १७ उपरिष्टाद्विराड् बृहती; २० भुरिग्विष्टारपंक्तिः; २१ एकाव० द्विव० आर्ची अनुष्टुप्; २२ त्रिप० ब्राह्मी पुरउष्णिग्, २३ द्विप० आर्ची पंक्तिः, २४ त्र्यव० षट्प० अष्टिः।
२	२५	,,	कामः	,, ५ अतिजगती; ७ जगती; ८ द्विप० आर्ची पंक्तिः; ११, २०, २३ भुरिज ;१२ अनुष्टुप्; १३ द्विप० आर्ची अनुष्टुप्; १४, १५, १७, १८, २१, २२ जगत्यः; १६ चतुष्प० शक्वरीगर्भा परा जगती।
द्वितीयोऽनुवाकः।				
३	३१	भृग्वंगिराः	शाला	अनुष्टुप्। ६ पथ्या पंक्तिः, ७ पुर उष्णिक्; १५ त्र्यव० पंच०अतिशक्वरी,१७ प्रस्तारपंक्तिः, २१ आस्तारपंक्तिः; २५, ३१ त्रिप० प्राजापत्या बृहती, २६ साम्नी त्रिष्टुभ्, २७-३० प्रतिष्ठा नाम गायत्री, (२५-३१ एकाव० त्रिपदा)
४	२४	ब्रह्मा	ऋषभः	त्रिष्टुभ्, ८ भुरिक्, ६, १०, २४ जगत्यः; ११-१७, १९, २०, २३ अनुष्टुभः; १८ उपरिष्टाद्बृहती; २१ आस्तारपंक्तिः।

तृतीयोऽनुवाकः।

५	३८	भृगुः	अजः पंचौदन.	,, ३ चतु० पुरोतिशक्वरी जगती; ४, १० जगत्यो; १४, १७, २७-३० अनुष्टुभः (३० ककुम्मती); १६ त्रिप० अनुष्टुप्; १८, ३७ त्रिप० विराड्गायत्री, २३ पुर उष्णिक्; २४ पंचप० अनुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद्बार्हता विराड् जगती, २६ पंचप० अनुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद्बार्हता भुरिक्; ३१ सप्त० अष्टी, ३२-३५ दशप० प्रकृती, ३६ दशपदा आकृति; ३८ एकाव० द्वि० साम्नी त्रिष्टुभ्।

[एकाविंशः प्रपाठकः]

६	६२	ब्रह्मा	अतिथ्या विद्या	
	(१) १७	,,	,,	१ त्रिप० गायत्री; २ त्रिप० आर्ची गायत्री ३, ७ साम्नी त्रिष्टुप्; ४, ९ आर्ची अनुष्टुभ्; ५ आसुरी गायत्री; ६ त्रिप० साम्नी जगती; ८ याजुषी त्रिष्टुभ्; १० साम्नी भुरिग्बृहती; ११, १४-१६ साम्न्यनुष्टुभ् १२ विराड्गायत्री; १३ साम्नी निचृत्पंक्ति, १७ त्रिप० विराड् भुरिग्गायत्री।
	(२) १३	,,	,,	१८ विराड् पुरस्ताद्बृहती; १९, २९ साम्नी त्रिष्टुभ्; २० आसुरी अनुष्टुभ्; २१ साम्नी उष्णिग्; २२, २८ साम्नी बृहती (२८ भुरिग्); २३ आर्ची अनुष्टुभ्; २४ त्रिप० स्वराडनुष्टुप्; २५ आसुरी गायत्री; २६ साम्नी अनुष्टुभ्; २७ त्रिप० आर्ची त्रिष्टुप्; ३० त्रिप० आर्ची पंक्तिः।
	(३) ९	,,	,,	३१-३६, ३९ त्रिप० पिपीलिकमध्या गायत्री; ३७ साम्नी बृहती, ३८ पिपीलिकमध्योष्णिक्।
	(४) ५	,,	,,	४०-४३ (१) प्राजापत्यानुष्टुप्; (१) ४४ भुरिक्; (२) ४०-४३ त्रिप० गायत्री; (२) ४४ चतु० प्रस्तारपंक्तिः।
	(५) ४	,,	,,	४५ (१) साम्नी उष्णिक्, ४५ (२) पुर

				उष्णिक्; ४५ (३), ४८ (३) साम्नी भुरिग्बृहती; ४६ (१), ४७ (१), ४८(२) साम्नी अनुष्टुभ, ४६ (२) त्रिप० निचृद्विराण्नाम गायत्री, ४७ (२) त्रिप० विराड् विषमा नाम गायत्री, ४८ (१) त्रिप० विराडनुष्टुप्।
(६) १४	,,	,,		४९ आसुरी गायत्री; ५० साम्नी अनुष्टुप्; ५१, ५३ त्रिप० आर्ची पंक्तिः, ५२ एकप० प्राजापत्या गायत्री; ५४-५९ आर्ची बृहती; ६० एकपदा आसुरी जगती; ६१ याजुषी त्रिष्टुप्; ६२ एकप० आसुरी उष्णिक्।

चतुर्थोऽनुवाकः।

७	२६	ब्रह्मा	गौः	१ आर्ची बृहती, २ आर्ची उष्णिक्; ३, ५ आर्ची अनुष्टुभ्; ४, १४, १५, १६ साम्नी बृहती; ६, ८ आसुरी गायत्री, ७ त्रिपदा पिपीलिकमध्या निचृद्गायत्री; ९, १३ साम्नी गायत्री, १० पुरउष्णिक्; ११, १२, १७, २५ साम्नी उष्णिक्; १८, २२ एकप० आसुरी जगती, १९ एकप० आसुरी पंक्ति., २० याजुषी जगती, २१ आसुरी अनुष्टुभ्; २३ एकप० आसुरी बृहती; २४ साम्नी भुरिग् बृहती, २६ साम्नी त्रिष्टुप्
८	२२	भृग्वंगिराः	सर्वशीर्षामयाद्यपाकरणं,	अनुष्टुभ् १२ अनुष्टुब्गर्भा ककुंमती चतुष्प० उष्णिक्; १५ विराटष्टुप्, २१ विराट् पथ्या बृहती, २२ पथ्या पंक्तिः।

पंचमोऽनुवाकः।

९	२२	ब्रह्मा	वाम अध्यात्मं आदित्यः	त्रिष्टुभ्, १२, १४, १६, १८ जगत्य ।
१०	२८	,,	गौ विराट् अध्यात्मं	,, १, ७, १४, १७, १८ जगत्य, २१ पञ्च० अतिशक्वरी; २४ चतु० पुर० भुरिगति जगती, २, २६, २७ भुरिग् ।

अथर्ववेदका स्वाध्याय ।

(अथर्ववेदका सुबोध भाष्य)

नवम काण्ड ।

मधुविद्या और गोमहिमा ।

(१)

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-मधु, अश्विनौ)

दिवस्पृथिव्या अन्तरिक्षात् समुद्रादग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे ।
तां चायित्वामृतं वसाना हृद्भिः प्रजाः प्रति नन्दन्ति सर्वाः ॥ १ ॥

अर्थ-(दिवः अन्तरिक्षात् पृथिव्याः) द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वी, (समुद्रात अग्नेः वातात्) समुद्रका जल, अग्नि और वायुसे (मधुकशा जज्ञे) मधुकशा उत्पन्न होती है । (अमृतं वसानां तां चायित्वा) अमृतको धारण करनेवाली उस मधुकशा को सुपूजित करके (सर्वाः प्रजाः हृद्भिः प्रतिनन्दन्ति) सब प्रजाजन हृदयसे आनंदित होते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ-पृथ्वी, आप, तेज, वायु आकाश और प्रकाशसे मधुर दूध देनेवाली गौ माता उत्पन्न हुई है, इस अमृतरूपी दूध देनेवाली गोमाताकी पूजा करनेसे सब प्रजाएं हृदयसे आनंदित होती हैं ॥ १ ॥

महत् पयो॑ विश्वरूपमस्याः समुद्रस्य त्वोत रेत॑ आहुः।
यत ऐति॑ मधुकशा ररा॑णा तत् प्राणस्तदमृतं निविष्टम् ॥ २ ॥
पश्यन्त्यस्याश्चरितं पृथिव्यां पृथङ्नरो॑ बहुधा मीमांसमानाः।
अग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः ॥ ३ ॥
मातादित्यानां॑ दुहिता वसूनां प्राणः प्रजानाममृतस्य नाभिः।
हिरण्यवर्णा मधुकशा घृताची महान् भर्गश्चरति मर्त्येषु ॥ ४ ॥

अर्थ- (अस्याः पयः) इसका दूध (महत् विश्वरूपं) बडा विश्वरूपही है। (उत त्वा समुद्रस्य रेतः आहुः) और तुझे समुद्रका वीर्य कहते हैं। (यतः मधुकशा रराणा एति) जहांसे यह मधुकशा शब्द करती हुई जाती है,(तत् प्राणः) वह प्राण है, (तत् निविष्टं अमृतं) वह सर्वत्र प्रविष्ट अमृत है ॥२॥

(बहुधा पृथक् मीमांसमानाः नरः) बहुत प्रकारसे पृथक् पृथक् विचार करनेवाले लोग (पृथिव्याः) इस पृथ्वीपर (अस्याः चरितं पश्यन्ति) इसका चरित्र अवलोकन करते हैं। (मधुकशा अग्नेः वातात् जज्ञे) यह मधुकशा अग्नि और वायुसे उत्पन्न हुई है। यह (मरुतां उग्रा नप्तिः) मरुतों की उग्र पुत्री है ॥ ३ ॥

(आदित्यानां माता) यह आदित्योंकी माता, (वसूनां दुहिता) वसुओंकी दुहिता, (प्रजानां प्राणः) प्रजाओंका प्राण और (अमृतस्य नाभिः) यह अमृतका केन्द्र है, (हिरण्यवर्णा मधुकशा घृताची) सुवर्णके समान वर्णवाली यह मधुकशा घृतका सिंचन करनेवाली है, यह (मर्त्येषु महान् भर्गः चरति) मर्त्योंमें यह महान् तेजही संचार करता है ॥४॥

भावार्थ- इस गोमाताका दूध मानो संपूर्ण विश्वकी बडी शक्ति है। अथवा मानो, यह संपूर्ण जलतत्त्वका सार है। जो यह शब्द करती हुई जाती है, वह सबका प्राण है और इसका दूध प्रत्यक्ष अमृत है ॥ २ ॥

विचार करनेवाले मनुष्य इस पृथ्वीपर इस गौका चरित्र देखते हैं। यह मधुर रस देनेवाली गौ अग्नि और वायु से उत्पन्न हुई है, अतः इसको मरुतों—वायुओं—की प्रभावशालिनी पुत्री कहते हैं ॥ ३ ॥

यह गौ आदित्योंकी माता, वसुओंकी पुत्री, प्रजाओंका प्राण है और यही अमृतका केन्द्र है। यह उत्तम रंगवाली, घृत देनेवाली और मधुर रसका निर्माण करनेवाली गौ सब मर्त्योंमें एक बडे तेजकी मूर्ति है ॥४॥

मधोः कशामजनयन्त देवास्तस्या गर्भो अभवद् विश्वरूपः ।
तं जातं तरुणं पिपर्ति माता स जातो विश्वा भुवना वि चष्टे ॥ ५ ॥
कस्तं प्र वेद क उ तं चिकेत यो अस्या हृदः कलशः सोमधानो अक्षितः ।
ब्रह्मा सुमेधाः सो अस्मिन् मदेत ॥ ६ ॥
स तौ प्र वेद स उ तौ चिकेत यावस्याः स्तनौ सहस्रधारावक्षितौ ।
ऊर्जं दुहाते अनपस्फुरन्तौ ॥ ७ ॥

अर्थ— (देवाः मधोः कशां अजनयन्त) इस मधुकी कशाको देवोंने बनाया है, (तस्याः विश्वरूपः गर्भः अभवत्) उसका यह विश्वरूप गर्भ हुआ है । (तं तरुणं जातं माता पिपर्ति) उस जन्मे हुए तरुणको वही माता पालती है, (सः जातः विश्वा भुवना विचष्टे) वह होतेहि सब भुवनोंका निरीक्षण करता है ॥ ५ ॥

(कः तं प्रवेद) कौन उसे जानता है, (कः उ तं चिकेत) कौन उसका विचार करता है ? (अस्याः हृदः) इसके हृदयके पास (यः सोमधानः कलशः अक्षितः) जो सोमरससे भरपूर पूर्ण कलश विद्यमान है, (अस्मिन्) इसमें (सः सुमेधाः ब्रह्मा) वह उत्तम मेधावाला ब्रह्मा (मदेत) आनंद करेगा ॥ ६ ॥

(सः तौ प्रवेद) वह उनको जानता है, (सः उ तौ चिकेत) वह उनका विचार करता है, (यौ अस्याः सहस्रधारौ अक्षितौ स्तनौ) जो इसके सहस्र-धारायुक्त अक्षय स्तन हैं । वे (अनपस्फुरन्तौ ऊर्जं दुहाते) अविचलित होते हुए बलवान रसका दोहन करते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ- देवोंने इस गौका निर्माण किया है, इसको सब प्रकारके रंगरूपका गर्भ होता है, बच्चा होनेके बाद वह उसका प्रेमसे पालन करती है, वह बडा होकर सब स्थानको देखता है ॥ ५ ॥

इस गौके अन्दर सोमरससे परिपूर्ण कलश अक्षयरूपसे रखा है. उस कलशको कौन जानता है और कौन उसका भला विचार करता है ? इसी के दुग्धरूपी रससे अपनी मेधाकी वृद्धी करनेवाला ब्रह्मा आनन्दित होता है ॥ ६ ॥

जो इस गौके दो स्तन हजारों धाराओंसे सदा अन्नरस देते हैं, कौन उन-का महत्त्व जानता है और कौन उनके महत्त्वका विचार करता है ? ॥ ७ ॥

हिङ्करिक्रती बृहती वयोधा उच्चैर्घोषाभ्येति या व्रतम् ।
त्रीन् घर्मानभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः ॥ ८ ॥
यामापीनामुपसीदन्त्यापः शाक्वरा वृषभा ये स्वराजः ।
ते वर्षन्ति ते वर्षयन्ति तद्विदे काममूर्जमापः ॥ ९ ॥
स्तनयित्नुस्ते वाक् प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यामधि ।
अग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः ॥ १० ॥ (१)

अर्थ-(या हिंकरिक्रती) जो हिंकार करनेवाली (वयो-धा उच्चैर्घोषा) अन्न देनेवाली उच्च स्वरसे पुकारनेवाली (व्रतं अभ्येति) व्रतके स्थानको प्राप्त होती है। (त्रीन् घर्मान् अभि वावशाना) तीनों यज्ञोंको वशमें रखनेवाली (मायुं मिमाति) सूर्यका मापन करती है और (पयोभिः पयते) दूधकी धाराओंसे दूध देती है ॥ ८ ॥

(ये वृषभाः) जो वर्षासे भरनेवाले बैल (स्वराजः शाक्वराः आपः) तेजस्वी शक्तिशाली जल (या आपीनां उपसीदन्ति) जिस पान करनेवालीके पास पंहुचते हैं। (तद्विदे कामं ऊर्जं) तत्त्वज्ञानीको यथेच्छ बल देनेवाले अन्नकी (ते वर्षन्ती) वे वृष्टी करते हैं, (ते वर्षयन्ति) वे वृष्टी कराते हैं ॥ ९ ॥

हे (प्रजापते) प्रजापालक ! (ते वाक् स्तनयित्नुः) तेरी वाणी गर्जना करनेवाला मेघ है, तू (वृषा) बलवान होकर (भूम्यां अधि शुष्मं क्षिपसि) भूमिपर बलको फेंकता है। (अग्नेः वातात् मधुकशा हि जज्ञे) अग्नि और वायुसे मधुकशा उत्पन्न हुई है, यह (मरुतां उग्रा नप्तिः) मरुतोंकी उग्र पुत्री है ॥ १० ॥

भावार्थ- यह गौ हिंकार करनेवाली, अन्न देनेवाली, उच्च स्वरसे हिंकार करनेवाली यज्ञभूमिमें विचरती है, तीनों यज्ञोंका पालन करती हुई यज्ञके द्वारा कालका मापन करती है और यज्ञके लिये अपना दूध देती है ॥८॥

जो बैल अपने तेज और बलसे पुष्ट गौओंके समीप होते हैं वे तत्त्वज्ञानीको यथेच्छ बल देनेवाले अन्न की वृष्टी करते और कराते हैं ॥ ९ ॥

हे प्रजापालक देव ! मेघगर्जना तेरी वाणी है, उससे तू भूमिके ऊपर अपना बल फेंकता है, वही गाय और बैलके रूपसे अग्नि और वायुका सत्वांश लेकर उत्पन्न हुआ है ॥ १० ॥

यथा सोमः प्रातःसवने अश्विनोर्भवति प्रियः ।
एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ ११ ॥
यथा सोमो द्वितीये सवन इन्द्राग्न्योर्भवति प्रियः ।
एवा म इन्द्राग्नी वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ १२ ॥
यथा सोमस्तृतीये सवन ऋभूणां भवति प्रियः ।
एवा म ऋभवो वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ १३ ॥
मधु जनिषीय मधु वंशिषीय ।
पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥ १४ ॥

अर्थ- (यथा सोमः प्रातःसवने) जैसा सोमरस प्रातःसवन यज्ञमें (अश्विनोः प्रियः भवति) अश्विनी देवोंको प्रिय होता है, हे अश्विदेवो ! (एवा मे आत्मनि) इस प्रकार मेरे आत्मामें (वर्चः ध्रियतां) तेज धारण करें ॥११॥

(यथा सोमः द्वितीये सवने) जैसा सोमरस द्वितीयसवन—माध्यंदिन-सवन—यज्ञमें (इन्द्राग्न्योः प्रियः भवति) इन्द्र और अग्निको प्रिय होता है, हे इन्द्र और अग्नि ! इस प्रकार मेरे आत्मामें तेज धारण करें ॥ १२ ॥

जैसा सोम (तृतीये सवने) तृतीयसवन-सायंसवन-यज्ञमें (ऋभूणां प्रियः भवति) ऋभूओंको प्रिय होता है, हे ऋभुदेवो ! इस प्रकार मेरे आत्मामें तेज धारण करें ॥ १३ ॥

(मधु जनिषीय) मीठास उत्पन्न करूंगा, (मधु वंशिषीय) मीठास प्राप्त करूं। हे अग्ने ! (पयस्वान् आगमं) दूधलेकर मैं आगया हूं, (तं मा वर्चसा संसृज) उस मुझको तेजसे संयुक्त कर ॥ १४ ॥

भावार्थ- जिस प्रकार सोम प्रातःसवनमें अश्विनी देवोंको प्रिय होता है, उस प्रकार मेरे अन्दर तेज प्रिय होकर बढे ॥ ११ ॥

जैसा सोम माध्यंदिन सवनमें इन्द्र और अग्निको प्रिय होता है वैसा मेरे अन्दर तेज प्रिय होकर बढे ॥ १२ ॥

जिस तरह सोम सायंसवनमें ऋभुओंको प्रिय होता है उस तरह मेरे अंदर तेज प्रिय होकर बढे ॥ १३ ॥

मधुरता उत्पन्न करता हूं, मधुरता संपादन करता हूं, हे देव ! मैं दूध समर्पण करनेके लिये आग[illegible] अतः मुझे इससे तेजसे युक्त कर ॥१४॥

यद् गिरिषु पर्वतेषु गोष्वश्वेषु यन्मधु ।
सुरायां सिच्यमानायां यत् तत्र मधु तन्मयि ॥ १८ ॥
अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती ।
यथा वर्चस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु ॥ १९ ॥
स्तनयित्नुस्ते वाक् प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यां दिवि ।
तां पशव उप जीवन्ति सर्वे तेनो सेषमूर्जं पिपर्ति ॥ २० ॥

अर्थ-(यथा गिरिषु पर्वतेषु) जैसा पहाडों और पर्वतोंपर और (गोषु अश्वेषु यत् मधु) गौवों और अश्वोंमें जो मीठास है, (सिच्यमानायां सुरायां) सिंचित होनेवाले वृष्टिजलमें (तत्र यत् मधु) उसमें जो मधु है । (तत् मयि) वह मुझमें हो ॥ १८ ॥

हे (शुभस्पती अश्विनौ) शुभके पालक अश्विदेवो ! (सारघेण मधुना मा सं अंक्तं) मधुमक्खियोंके मधुसे मुझे युक्त करें। (यथा) जिससे (वर्चस्वतीं वाचं) तेजस्वी भाषण (जनान् अनु आवदानि) लोगोंके प्रति मैं बोलूं ॥ १९ ॥

हे (प्रजापते) प्रजापालक ! तू (वृषा) बलवान है और (ते वाक् स्तनयित्नुः) तेरी वाणी मेघगर्जना है, तू (भूम्यां दिवि) भूमिपर और द्युलोकमें (शुष्मं क्षिपसि) बलकी वर्षा करता है, (तां सर्वे पशवः) उपजीवन्ति) उसपर सब पशुओंकी जीविका होती है। और (तेन उ सा इषं ऊर्जं पिपर्ति) उससे वह अन्न और बलवर्धक रसकी पूर्णता करती है ॥ २० ॥

भावार्थ— जैसी पहाडों और पर्वतोंमें, गौओं और घोडोंमें और वृष्टी जलमें मधुरता है वैसी मधुरता मेरे अन्दर हो जावे ॥ १८ ॥

हे देवो ! मुझे उस मधुमक्खियोंके मधुसे संयुक्त कीजिये । जिससे मैं यह मीठास का संदेश संपूर्ण जनोंके पास पहुंचाऊं ॥ १९ ॥

हे प्रजापालक देव ! तू बलवान है और मेघगर्जना तेरी वाणी है । तूही द्युलोकसे भूलोकतक बलकी वृष्टी करता है, सब जीव उसपर जीवित रहते हैं । वह अन्न और बल हम सबको प्राप्त हो ॥ २० ॥

यद् वीध्रे स्तनयति प्रजापतिरेव तत् प्रजाभ्यः प्रादुर्भवति ।
तस्मात् प्राचीनोपवीतस्तिष्ठे प्रजापतेनु मा बुध्यस्वेति ।
अन्वेनं प्रजा अनु प्रजापतिर्बुध्यते य एवं वेद ॥ २४ ॥ (२)

अर्थ- (यत् वीध्रे स्तनयति) जो आकाशमें गर्जना होती है, (प्रजापतिः एव तत्) प्रजापति हि वह (प्रजाभ्यः प्रादुर्भवति) प्रजाओंके लिये, मानो, प्रकट होता है। (तस्मात् प्राचीनोपवीतः तिष्ठे) इसलिये दायें भागमें वस्त्र लेकर खडा होता हूं, हे (प्रजापते) प्रजापालक ईश्वर! (मा अनु बुध्यस्व) मेरा स्मरण रखो। (यः एवं वेद) जो यह जानता है, (एनं प्रजाः अनु) इसके अनुकूल प्रजाएं होती हैं तथा इसको (प्रजापतिः अनु-बुध्यते) प्रजापति अनुकूलतापूर्वक स्मरणमें रखता है ॥ २४ ॥

भावार्थ- जो आकाशमें गर्जना होती है, मानो वह परमेश्वर संपूर्ण प्रजाओंके लिये प्रकट होकर उपदेश करता है। उस समय लोग ऐसी प्रार्थना करें कि "हे देव! हे प्रजापालक! मेरा स्मरण कर, मुझे न भूल जा।" जो इसप्रकार प्रार्थना करना जानता है, प्रजाजन उसके अनुकूल होते हैं और प्रजापालक परमेश्वर भी उसका स्मरणपूर्वक भला करता है ॥ २४ ॥

सात मधु।

इस सूक्तमें विशेष कर गौकी महिमा वर्णन की है। इस सूक्तका भावार्थ विचार-पूर्वक पढनेसे पाठक स्वयं इस सूक्तमें कही गोमहिमा जान सकते हैं। वेदकी दृष्टीसे गौका महत्त्व कितना है, यह बात इस सूक्तके प्रत्येक मंत्रमें सुबोध रीतिसे दर्शायी है।

यह गौ संपूर्ण जगत्का सत्त्व है, यह पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश और प्रकाश का सार है। इस गौमें अमृत रस है जिसका पान करनेसे सब प्रजाजन आनंदित और हृष्टपुष्ट होते हैं। इसका दूध मानो संपूर्ण जगत्के पदार्थोंका वीर्य ही है, वही सबका प्राण और वही अद्भुत अमृत है। विशेष मननशील मनुष्य ही इस गौके महत्त्वको जानते हैं और अनुभव कर सकते है। यह गौ देवोंकी माता है और यही सब प्रजाजनोंका प्राण है, क्यों कि इसमें अमृतका मधुर रस भरा है। जो इसका दूध पीते हैं वे मानो अपने अंदर अमृत रस लेते हैं और उस कारण वे दीर्घायुषी होते हैं। संपूर्ण अमृत रस का केन्द्र स्रोत इस गौके अंदर है।

अमृतका कलश ।

यह गौ संपूर्ण देवोंने अपनी दिव्य शक्तियोंसे उत्पन्न की है। उन्होंने इसके दुग्धाशयमें अमृतका घडा रखा है। जो अपनी मेधाबुद्धी बढाना चाहते हैं वे इस दूधरूपी अमृतको अवश्य पीयें। इस गौके स्तनोंसे जो दुग्धरूपी रस निकलता है, वह मानो अद्भुत बल देनेवाला रस है।

यह अन्नरस देती है, यज्ञ कराती है, व्रतधारण कराती है, और अपने दूधसे सबको पुष्ट करती है। बैल भी हम सबको अनंत प्रकारके सुख देता है। जिस प्रकार सोमरस देवोंको प्रिय होता है, उस प्रकार गायका दूध मनुष्योंको प्रिय होवे और उससे मनुष्योंका तेज बढे। जिस प्रकार मधुमक्खियां थोडा थोडा मधु इकट्ठा करती हैं और अपने मधुस्थानमें उसका संग्रह करती हैं, इसी प्रकार मनुष्योंको उचित है कि वे इन मधुमक्खियोंका अनुकरण करें और अपने अन्दर ज्ञान, तेज, बल, वीर्य और पराक्रम बढावें। शनैः शनैः प्रयत्न करनेपर मनुष्य इन बातोंको अपने अन्दर बढा सकता है।

पहाडों पर्वतों और संपूर्ण जगत्में सर्वत्र मधु भरा है, वह मधुरता मेरे अन्दर आवे। इस गौके रूपसे परमेश्वरकी अद्भुत शक्ति हि पृथ्वीपर मनुष्योंकी उन्नतिके लिये आगयी है। यह बात स्मरणमें अवश्य रखिये।

इस मधुरताके सात रूप इस पृथ्वीपर हैं, एक मधुरता ब्राह्मणोंमें ज्ञान रूपसे है, दूसरी मधुरता क्षत्रियोंमें पराक्रमके रूपसे विद्यमान है, इसी प्रकार गौ, बैल, चावल, जौ और शहदमें भी मधुरता है। अतः जो मनुष्य यह बात जानता है वह इन सात पदार्थोंसे अपनी उन्नति करता है।

यह सब उपदेश स्वयं प्रजापतिने किया है, अतः पाठक इसका स्मरण रखें और इन सात शहदोंसे अपना बल बढावें।

इस सूक्तका यह आशय स्पष्ट है, अतः अधिक विवरण करनेकी आवश्यकता नहीं है।

काम ।

[२]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता-कामः)
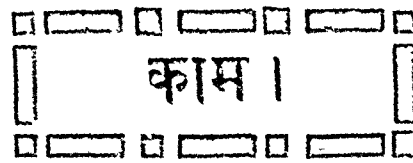
सपत्नहनमृषभं घृतेन कामं शिक्षामि हविषाज्येन ।
नीचैः सपत्नान् मम पादय त्वमभिष्टुतो महता वीर्येण ॥ १ ॥
यन्मे मनसो न प्रियं न चक्षुषो यन्मे बभस्ति नाभिनन्दति ।
तद् दुष्वप्न्यं प्रति मुञ्चामि सपत्ने कामं स्तुत्वोदहं भिदेयम् ॥ २ ॥

अर्थ- (सपत्नहनं ऋषभं कामं) शत्रुका नाश करनेवाले बलवान काम को मैं (हविषा आज्येन घृतेन शिक्षामि) हवि घी आदिसे शिक्षित करता हूं। (महता वीर्येण अभिष्टुतः) बडे पराक्रमसे प्रशंसित होकर (त्वं) तू (मम सपत्नान् नीचैः पादय) मेरे शत्रुओंको नीचे कर दे ॥ १ ॥

(यत् मे मनसः न प्रियं) जो मेरे मनको प्रिय नहीं है, (यत् मे चक्षुषः प्रियं न) जो मेरे आंखोंको प्रिय नहीं है, (यत् मे बभस्ति) जो मेरा तिरस्कार करता है और (न अभिनन्दति) न मुझे आनन्द देता है, (तत् दुष्वप्न्यं) वह बुरा स्वप्न (सपत्ने प्रतिमुञ्चामि) शत्रुके ऊपर भेज देता हूं। (अहं कामं स्तुत्वा) मैं काम की स्तुति करके (उत् भिदेयं) ऊपर उठता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ-काम (संकल्प) बडा बलवान है और शत्रुका नाश करनेवाला है, उसको यज्ञसे शिक्षित करना चाहिये। वह बडे वीर्यसे प्रशंसित हुआ तो शत्रुओंको नीचे करता है ॥ १ ॥

जो मेरे मन और अन्य इंद्रियोंको अप्रिय है, जो मुझे आनंदित नहीं करता, जो मेरा तिरस्कार करता है, वह दुष्ट स्वप्न मेरे शत्रुकी ओर जावे। मैं इस संकल्पशक्तिके द्वारा उन्नत होता हूं ॥ २ ॥

दुःष्वप्न्यं काम दुरितं च कामाप्रजस्तामस्वगतामवर्तिम् ।
उग्र ईशानः प्रति मुञ्च तस्मिन् यो अस्मभ्यमंहूरणा चिकित्सात् ॥३॥
नुदस्व काम प्र णुदस्व कामावर्तिं यन्तु मम ये सपत्नाः ।
तेषां नुत्तानामधमा तमांस्यग्ने वास्तूनि निर्दह त्वम् ॥ ४ ॥
सा ते काम दुहिता धेनुरुच्यते यामाहुर्वाचं कवयो विराजम् ।
तया सपत्नान् परि वृङ्ग्धि ये मम पर्येनान् प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु ॥ ५ ॥

अर्थ- हे काम! (दुष्वप्न्यं) दुष्ट स्वप्न, (दुरितं च) पाप और (अप्रजस्तां) संतान न होना, (अ-स्व-गतां) निर्धन अवस्था, (अवर्तिं) आपत्ती इन सबको, हे (उग्र काम) बलवान् काम! तू (ईशानः तस्मिन् प्रतिमुञ्च) सबका स्वामी है, अतः उसपर छोड कि (यः अस्माकं अंहूरणा चिकित्सात्) जो हम सबको पापमय विपत्तिमें डालनेका विचार करता है ॥ ३ ॥

हे काम (नुदस्व) उनको दूर कर, हे काम! उनको (प्रणुदस्व) हटादे, (ये मम सपत्नाः) जो मेरे शत्रु हैं वे (अवर्तिं यन्तु) आपत्ती को प्राप्त हों। हे अग्ने! (अधमा तमांसि नुत्तानां) गाढ अंधारमें भेजे हुए उन शत्रुओंके (त्वं वास्तूनि निर्दह) तू घरोंको जला दे ॥ ४ ॥

हे काम! (सा धेनुः ते दुहिता उच्यते) वह धेनु तेरी दुहिता कही जाती है, (यां कवयः विराजं वाचं आहुः) जिस को कवि लोग विशेष तेजस्वी वाणी कहते हैं। (ये मम) जो मेरे शत्रु हैं उन (सपत्नान् तया परि वृङ्ग्धि) शत्रुओंको उससे दूर हटा दे। (एनान्) इन शत्रुओंको (प्राणः पशवः जीवनं परि वृणक्तु) प्राण, पशु और आयु छोड देवे ॥ ५ ॥

भावार्थ-दुष्ट स्वप्न, पाप, संतान न होना, दारिद्र्य, आपत्ति आदि सब हमारे उन शत्रुओंको प्राप्त हों, जो कि हमें पापमूलक विपत्तिमें डालनेका विचार करते हैं ॥ ३ ॥

काम हमारे शत्रुओंको दूर हटादेवे, उन शत्रुओंको विपत्ति घेरे और जब वे शत्रु गाढ अन्धकारमें पडें तब अग्नि उनके घरोंको जला देवे ॥४॥

सब कविलोक कहते हैं कि वाणी काम की पुत्री है। इस वाणीके द्वारा हमारे सब शत्रु दूर हों और उनको प्राण, पशु, और आयु छोड देवे॥५॥

कामस्येन्द्रस्य वरुणस्य राज्ञो विष्णोर्बलेन सवितुः सवेन ।
अग्नेर्होत्रेण प्र णुदे सपत्नाञ्छम्बीव नावमुदकेषु धीरः ॥ ६ ॥
अध्यक्षो वाजी मम काम उग्रः कृणोतु मह्यमसपत्नमेव ।
विश्वे देवा मम नाथं भवन्तु सर्वे देवा हवमा यन्तु म इमम् ॥ ७ ॥
इदमाज्यं घृतवज्जुषाणाः कामज्येष्ठा इह मादयध्वम् ।
कृण्वन्तो मह्यमसपत्नमेव ॥ ८ ॥

अर्थ—(कामस्य इन्द्रस्य वरुणस्य राज्ञः) काम इन्द्र वरुण राजा इनके और (विष्णोः बलेन सवितुः सवेन) विष्णुके बल और सविताकी प्रेरणासे तथा (अग्नेः होत्रेण) अग्निके हवनसे (सपत्नान् प्रणुदे) शत्रुओंको दूर करता हूं। (इव) जैसा (उदकेषु शंबी धीरः नावं) जलमें धैर्यवान् धीवर नौकाको चलाता है ॥ ६ ॥

(उग्रः वाजी कामः) प्रतापी बलवान् काम (मम अध्यक्षः) मेरा अधिष्ठाता है। (मह्यं असपत्नं एव कृणोतु) मुझे सपत्नरहित करे। (विश्वे देवाः मम नाथं भवन्तु) सब देव मेरे नाथ हों, (सर्वे देवाः मे इमं हवं आयन्तु) सब देव मेरे इस हवन के स्थानमें आवें ॥ ७ ॥

हे (कामज्येष्ठाः) कामको श्रेष्ठ माननेवाले सब देवो ! (इदं घृतवत आज्यं जुषाणाः) इस घृतयुक्त हवनका सेवन करते हुए (इह मादयध्वं) यहां हर्षित हो जाओ और (मह्यं असपत्नं एव कृण्वन्तः) मुझे शत्रुरहित करो ॥ ८ ॥

भावार्थ- जिस प्रकार अगाध समुद्रमें नौकाको धीवर लोग चलाते हैं, उन प्रकार देवोंकी शक्तिसे मैं शत्रुओंको इस भवसागरमें प्रेरित करता हूं ॥ ६ ॥

बलवान, प्रतापी काम मेरा अधिष्ठाता है। वह मुझे शत्रुरहित करे, देव मेरे स्वामी बनें, सब देव मेरे यज्ञमें आजांय ॥ ७ ॥

काम जिनमें श्रेष्ठ हैं ऐसे सब देव इस यज्ञमें आकर इस हवन द्वारा आनंदित हों और मुझे शत्रुरहित बनावें ॥ ८ ॥

च्युता चेयं बृहत्यच्युता च विद्युद् बिभर्ति स्तनयित्नूंश्च सर्वान् ।
उद्यन्नादित्यो द्रविणेन तेजसा नीचैः सपत्नान् नुदतां मे सहस्वान् ॥ १५ ॥
यत् ते काम शर्म त्रिवरूथमुद्भु ब्रह्म वर्म विततमनतिव्याध्यं कृतम् ।
तेन सपत्नान् परि वृङ्ग्धि ये मम पर्येनान् प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु ॥१६॥
येन देवा असुरान् प्राणुदन्त येनेन्द्रो दस्यूनधमं तमो निनाय ।
तेन त्वं काम मम ये सपत्नास्तानस्माल्लोकात् प्र णुदस्व दूरम् ॥ १७ ॥

अर्थ-(च्युता च अच्युता च इयं बृहती विद्युत्) विचलित अथवा अविचलित हुई यह बडी विद्युत (सर्वान् स्तनयित्नून् च बिभर्ति) सब गर्जना करनेवालों का धारण करती है। (द्रविणेन तेजसा उद्यन् सहस्वान् आदित्यः) धन और तेजके साथ उदयको प्राप्त होनेवाला बलवान् सूर्य (मे सपत्नान् नीचैः नुदतां) मेरे शत्रुओंको नीचे की ओर भगावे ॥ १५ ॥

हे काम ! (यत् ते त्रिवरूथं उद्भु) जो तेरा तीनों ओरसे रक्षक उत्कृष्ट शक्तिवाला (विततं ब्रह्म वर्म) फैला हुआ ज्ञान का कवच (अनतिव्याध्यं कृतं) शस्त्रोंसे वेध न होने योग्य बनाया और (शर्म) सुखदायक है (तेन) उससे (ये मम) जो मेरे शत्रु हैं उन (सपत्नान् परिवृङ्ग्धि) शत्रुओंको दूर कर । (एनान् प्राणः पशवः जीवनं परि वृणक्तु) इनको प्राण, पशु और आयु छोड देवे ॥ १६ ॥

(येन देवाः असुरान् प्राणुदन्त) जिससे देव असुरोंको दूर करते रहे, (येन दस्यून् इन्द्रः अधमं तमः निनाय) जिससे शत्रुओंको इन्द्रने हीन अन्धकार में डाल दिया, हे काम ! (तेन) उससे (मम ये सपत्नाः) मेरे जो शत्रु हैं (तान् सपत्नान्) उन शत्रुओंको (त्वं अस्मात् लोकात्) तू इस लोकसे (दूरं प्रणुदस्व) दूर भगा ॥ १७ ॥

भावार्थ- यह विद्युत् और यह सूर्य अर्थात् इनमें जो देव है वह मेरे शत्रुओंको दूर भगा देवे ॥ १५ ॥

इस कामका बडा संरक्षक ज्ञानमय कवच है वह सब सुखोंका देनेवाला है। इसको मैं पहनता हूं, जिससे शत्रुके शस्त्र मेरा वेध नहीं करेंगे, और सब शत्रु प्राण, पशु और आयुसे रहित हो जायगे ॥ १६ ॥

जिस शक्तिसे देवोंने असुरोंका और इन्द्रने दस्युओंका पराभव किया

यथा देवा असुरान् प्राणुदन्त यथेन्द्रो दस्यूनधमं तमो बबाधे ।
तथा त्वं काम मम ये सपत्नास्तानस्माल्लोकात् प्र णुदस्व दूरम् ॥ १८ ॥

कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥१९॥

यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावदापः सिष्यदुर्यावदग्निः ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥२०॥ (४)

अर्थ-(यथा देवाः असुरान् प्राणुदन्त) जिस रीतिसे देवोंने असुरोंको हटाया, (यथा इन्द्रः दस्यून् अधमं तमः बबाधे) जिस प्रकार इन्द्रने शत्रुओंको हीन अन्धकारमें डाला, (तथा त्वं काम) उस प्रकार हे काम! तू (मम ये सपत्नाः) मेरे जो शत्रु हैं (तान् अस्मात् लोकात् दूरं प्रणुदस्व) उनको इस लोकसे दूर हटा दे ॥ १८ ॥

(कामः प्रथमः जज्ञे) काम सबसे पहिले उत्पन्न हुआ (देवाः एनं न आपुः) देवोंने इसको प्राप्त नहीं किया और (पितरः मर्त्याः न) पितरोंको और मर्त्योंको भी यह प्राप्त नहीं हुआ। (ततः त्वं ज्यायान् असि) अतः तू श्रेष्ठ है और (विश्वहा महान्) सदा महान् है। हे काम! (तस्मै ते इत् नमः कृणोमि) उस तुझे मैं नमस्कार करता हूं ॥ १९ ॥

(यावती वरिम्णा द्यावापृथिवी) जितनी विस्तारसे द्यौ और पृथिवी बडी है, (यावत् आपः सिष्यदुः) जहांतक जल फैला है, (यावत् अग्निः) जबतक अग्नि फैला है, (ततः त्वं ज्यायान् असि) उससे भी तू बडा है और (विश्वहा महान्) सदा बडा है। हे काम (तस्मै ते०) उस तुझे मैं नमस्कार करता हूं ॥ २० ॥

उस शक्तिसे मैं अपने शत्रुओंको इस स्थानसे भगा दूंगा ॥ १७—१८ ॥

काम सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ। देवों, पितरों और मर्त्योंका प्रकट होना उसके पश्चात् है। अतः काम सबसे श्रेष्ठ है। इसलिये मैं उसको नमन करता हूं ॥ १९ ॥

यावतीर्दिशः प्रदिशो विषूचीर्यावतीराशा अभिचक्षणा दिवः ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥२१॥
यावतीर्भृङ्गा जत्वः कुरूरवो यावतीर्वघा वृक्षसर्प्यो बभूवुः ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥२२॥
ज्यायान् निमिषतोऽसि तिष्ठतो ज्यायान्त्समुद्रादसि काम मन्यो ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥२३॥
न वै वातश्चन काममाप्नोति नाग्निः सूर्यो नोत चन्द्रमाः ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥ २४ ॥

अर्थ-(यावतीः दिशः प्रदिशः विषूचीः) जहांतक दिशाएं और उपदिशाएं फैली हैं और (यावतीः दिवः अभिचक्षणाः आशाः) जहां तक द्युलोकका प्रकाश फैलानेवाली दिशाएं हैं, (ततः त्वं०) उनसे भी तू बडा और सदा महान् है, हे काम मैं उस तुझको नमस्कार करता हूं ॥ २१ ॥

(यावतीः भृंगाः जत्वः) जहांतक भौंरे, मक्खियां, (यावतीः कुरूरवः वघाः) जहांतक नीलें और काटनेवाले डेमू और (वृक्षसर्प्यः बभूवुः) वृक्षपर चढनेवाले सर्प होते हैं (ततः त्वं०) उनसे तू बडा और सदा श्रेष्ठ है, हे काम ! उस तुझे मैं नमस्कार करता हूं ॥ २२ ॥

हे काम ! हे (मन्यो) उत्साह ! तू (निमिषतः ज्यायान्) पलक मारने वालोंसे बडा, (तिष्ठतः ज्यायान्) ठहरनेवालोंसे भी बडा, (समुद्रात् असि) समुद्रसे भी बडा है। (ततः त्वं०) उनसे तू बडा और सदा श्रेष्ठ है, हे काम ! उस तुझे मैं नमस्कार करता हूं ॥ २३ ॥

(वातः चन कामं न आप्नोति) वायु कामको नहीं प्राप्त करता, (न अग्निः, सूर्यः, न उत चन्द्रमाः) अग्नि, सूर्य और चन्द्र इनमेंसे कोई भी उसको प्राप्त नहीं कर सकता। (ततः त्वं०) उनसे तू बडा और सदा श्रेष्ठ है, हे काम ! उस तुझे मैं नमस्कार करता हूं ॥ २४ ॥

भावार्थ- जितना पृथ्वीका विस्तार है, जहांतक जल फैले हैं, जहांतक प्रकाशकी व्याप्ति है, दिशाएं जहांतक फैली हैं, पशुपक्षी जहांतक दौडते हैं उन सबकी व्याप्तिसे कामकी व्यापकता बढकर है ॥ २०-२२ ॥

आंखें मूंदनेवाले प्राणियोंसे कामकी शक्ति बढकर है, स्थिरपदार्थोंसे

यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्रा याभिः सत्यं भवति यद् वृणीषे ।
ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसंविशस्वान्यत्र पापीरप वेशया धियः ॥ २५ ॥ (५)

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अर्थ-हे काम (याः ते शिवाः भद्राः तन्वः) जो तेरी कल्याणकारी और हितकर शरीरें हैं, (याभिः) जिनसे तू (यत सत्यं भवति) जो सच्चा होता है उसका (वृणीषे) स्वीकार करता है। (ताभिः त्वं अस्मान् अभि सं विशस्व) उनसे तू हम सबमें प्रविष्ट हो और (पापीः धियः) पाप बुद्धियोंको (अन्यत्र अपवेशय) दूर करो ॥ २५ ॥

भी बढकर है, पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाश से भी बडी है। सूर्य चन्द्रसे भी बढकर है अर्थात यह काम सबसे बढकर है ॥ २३-२४ ॥

अतः हे काम ! शुभ, भद्र और सत्य जो है वह मेरे पास प्राप्त हो और पापबुद्धि मुझसे दूर चली जाय ॥ २५ ॥

संकल्पशक्ति ।

इस सूक्तमें ' काम ' शब्द है वह स्त्रीसंबंधके विषयका वाचक नहीं है, परंतु संकल्प-शक्तिका वाचक है। यह काम सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ है ऐसा इस सूक्तके निम्न-लिखित मंत्रमें कहा है—

कामो जज्ञे प्रथमः । (मं० १९)

" काम सबसे पहिले प्रकट हुआ। " यही बात वेदमें अन्यत्र कही है—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
ऋ० १० । १२९ । ४

" आरंभमें मनका वीर्य बढानेवाला काम सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ। इस प्रकार कामकी उत्पत्ति सबसे प्रथम कही है। उपनिषदोंमेंभी देखिये—

कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृति
र्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव ॥ बृ० उ० १ । ५ । ३
काम एव यस्यायतनं हृदयं लोको मनो ज्योतिः०
स एवायं काममयः पुरुषः० ॥ बृ० उ० ३ । ९ । ११

कामोऽकार्षीन्नाहं करोमि, कामः करोति, कामः कर्ता, कामः कारयिता ॥ महानारा० उ० १८ । २

" काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, ह्री (लज्जा,) धीः (बुद्धिः), भीः (भय) यह सब मनमें रहता है । इन सबमें जो पहली लहरी है वह काम की लहरी है । काम सबका आधारस्थान है, उसका तेज मन है और हृदय लोक है । यह मनुष्य काममय है अर्थात जिस प्रकारके इसके काम होते हैं वैसा यह बनता है । काम ही सबका कर्ता है, मैं कर्ता नहीं हूं । कामके द्वारा यह सब चलाया जाता है । " इस रीतिसे उपनिषदोंमें कामके विषयमें कहा है । यहां कामका अर्थ 'संकल्प' है यह बात स्पष्ट होगई है । यह संकल्प अच्छा हुआ तो मनुष्यका भला होता है और बुरा हुआ तो बुरा होता है । यह बुरा हो वा भला हो, इसमें बडी भारी शक्ति रहती है । मानो संपूर्ण मनुष्य इसीकी प्रेरणासे प्रेरित होकर बुरा भला कर्म कर रहे हैं । यह मानवोंका व्यवहार देखनेसे कहना पडता है कि इस काम-संकल्प-की शक्ति बहुत ही बडी है, इसी शक्तिका वर्णन इस सूक्तमें किया है ।

जगत्के प्रारंभमें आत्माके अन्दर ' काम किंवा संकल्प ' उत्पन्न हुआ, इसका दर्शक उपनिषद्वचन यह है— ' सोऽकामयत ' (बृ० उ० १ । २ । ४, तै० उ० २ । ६ । १) उस आत्माने कामना की और उसकी कामना सिद्ध हुई जिससे यह सब जगत् निर्माण हुआ है । परमात्माके संकल्प शुद्ध थे अतः वे सिद्ध होगये । जिसके संकल्प शुद्ध होते हैं उसके सब संकल्प सिद्ध होते हैं, अतः कहा है—

यं यं कामं कामयते, सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति ।

छां० उ० ८ । २ । १०

" जो कामना करता है वह संकल्प होते ही सिद्ध हो जाती है । " यह संकल्पका बल है । इस संपूर्ण सृष्टीकी उत्पत्तिभी इसी प्रकार होगई है । मनुष्यकी कामनामें भी यह बल अल्प अंशसे है । इसीका वर्णन इस सूक्तमें किया है । यदि इस काममें इतनी प्रचण्ड शक्ति है तो अवश्यहि उसको सुशिक्षासे युक्त करना चाहिये, अतः कहा है-

सपत्नहनं ऋषभं कामं हविषा शिक्षामि । (मं० १)

" शत्रुका नाश करनेवाला बलवान् काम है, उसको यज्ञसे शिक्षित करता हूं । " इस कामनामें- इस संकल्पमें-बडी शक्ति है, परंतु वह यदि अशिक्षित रही, तो हानि करेगी, अतः उसको शिक्षा देकर उत्तम नियम व्यवस्थामें चलनेवाली करनी चाहिये ।

अतः शिक्षाकी आवश्यकता है । यह शिक्षा यज्ञसे-हविसे अर्थात् आत्मसमर्पणसे-होती है । हवि जैसा जगत् की भलाई के लिये स्वयं जल जाता है, पूर्णतया समर्पित होता है वैसा मनुष्यको आत्मसमर्पण करना चाहिये। आत्मसमर्पण की शिक्षासे अपने संकल्प को शिक्षित करना चाहिये । इस रीतिसे सुशिक्षित हुआ यह काम (महता वीर्येण) बडे वीर्य-पराक्रम से युक्त होता है और मनुष्य इसके प्रभावसे अपने सब शत्रु दूर कर सकता है ।

यन्मे मनसो न प्रियं न चक्षुषः यन्मे नाभिनन्दति । (मं० २)

"जो मनको और आंखको प्रिय नहीं होता है और जो अन्य इंद्रियोंको भी अप्रिय होता है, जो अपने आत्माको सन्तोष नहीं देता । " उसको दूर करना इसी सुशिक्षित कामसे होता है । इसीसे (अहं उत् भिदेयं) अपने ऊपरका दबाव हटाकर, उसका भेदन करके अपनी उच्च अवस्था की जा सकती है । यह सब मनुष्य के प्रयत्नसे साध्य होनेवाली बात है । परंतु यह तब होगा जब कि मनुष्यकी कामना सुशिक्षायुक्त होगी, अन्यथा यही प्रचंड शक्ति इसका नाश करेगी ।

(कामः उग्रः ईशानः) काम बडा उग्र अर्थात् प्रतापी है और वह ईश्वर है अर्थात् मनुष्यकी भवितव्यताका वह स्वामी है । क्यों कि मनुष्यका भूत, भविष्य, वर्तमान यही घडता है । जैसा यह बनाता है वैसी मनुष्यकी स्थिति बनती है । अतः इसका महत्त्व बडा भारी है । इसका ऐसा विलक्षण प्रभाव है इसीलिये इसकी सहायतासे मनुष्य निःसन्देह उन्नति प्राप्त कर सकता है—

दुरितं अप्रजस्तां अ-स्व-गतां अवर्ति मुञ्च । (मं० ३)

"पाप, संतान न होना, निर्धनता और विपत्ति इनको दूर कर सकता है ।" मनुष्यकी भी यही इच्छा हुआ करती है । कोई मनुष्य नहीं चाहता कि मुझे पाप लगे, संतान न हो, दारिद्र्य मेरे पास आजाय और मैं विपत्तीमें सडता रहूं, ऐसा कोईभी नहीं चाहता । परंतु ये संपूर्ण विपत्तियां मनुष्यको भोगनी पडती हैं, इसका कारण यह है कि मनुष्य की कामना अशिक्षित होती है, वह विपरीत संकल्प करती है और उसका फल विपत्ति-रूप उसे भोगना ही पडता है । इस कामकी पुत्री वाणीरूपी धेनु है, इसका वर्णन इस प्रकार है—

ते दुहिता धेनुः यां कवयो वाचं आहुः । (मं० ५)

" कामकी पुत्री एक धेनु है जिसको कवि लोग वाणी कहते हैं । " यह वाणी भी

कामोऽकार्षीन्नाहं करोमि, कामः करोति, कामः कर्ता,
कामः कारयिता ॥ महानारा० उ० १८।२

" काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, ह्री (लज्जा,) धीः (बुद्धिः), भीः (भय) यह सब मनमें रहता है। इन सबमें जो पहली लहरी है वह काम की लहरी है। काम सबका आधारस्थान है, उसका तेज मन है और हृदय लोक है। यह मनुष्य काममय है अर्थात जिस प्रकारके इसके काम होते हैं वैसा यह बनता है। काम ही सबका कर्ता है, मैं कर्ता नहीं हूं। कामके द्वारा यह सब चलाया जाता है।" इस रीतिसे उपनिषदोंमें कामके विषयमें कहा है। यहां कामका अर्थ ' संकल्प ' है यह बात स्पष्ट होगई है। यह संकल्प अच्छा हुआ तो मनुष्यका भला होता है और बुरा हुआ तो बुरा होता है। यह बुरा हो या भला हो, इसमें बडी भारी शक्ति रहती है। मानो संपूर्ण मनुष्य इसीकी प्रेरणासे प्रेरित होकर बुरा भला कर्म कर रहे हैं। यह मानवोंका व्यवहार देखनेसे कहना पडता है कि इस काम-संकल्प-की शक्ति बहुत ही बडी है, इसी शक्तिका वर्णन इस सूक्तमें किया है।

जगत्के प्रारभमें आत्माके अन्दर ' काम किंवा संकल्प ' उत्पन्न हुआ, इसका दर्शक उपनिषद्वचन यह है— ' सोऽकामयत ' (बृ० उ० १।२।४, तै० उ० २।६।१) उस आत्माने कामना की और उसकी कामना सिद्ध हुई जिससे यह सब जगत् निर्माण हुआ है। परमात्माके संकल्प शुद्ध थे अतः वे सिद्ध होगये। जिसके संकल्प शुद्ध होते हैं उसके सब संकल्प सिद्ध होते हैं, अतः कहा है—

यं यं कामं कामयते, सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति।
छां० उ० ८।२।१०

" जो कामना करता है वह संकल्प होते ही सिद्ध हो जाती है।" यह संकल्पका बल है। इस संपूर्ण सृष्टीकी उत्पत्तिभी इसी प्रकार होगई है। मनुष्यकी कामनामें भी यह बल अल्प अंशसे है। इसीका वर्णन इस सूक्तमें किया है। यदि इस काममें इतनी प्रचण्ड शक्ति है तो अवश्यहि उसको सुशिक्षासे युक्त करना चाहिये, अतः कहा है-

सपत्नहनं ऋषभं कामं हविषा शिक्षामि। (मं० १)

" शत्रुका नाश करनेवाला बलवान् काम है, उसको यज्ञसे शिक्षित करता हूं।" इस कामनामें- इस संकल्पमें-बडी शक्ति है, परंतु वह यदि अशिक्षित रही, तो हानि करेगी, अतः उसको शिक्षा देकर उत्तम नियम व्यवस्थामें चलनेवाली करनी चाहिये।

अतः शिक्षाकी आवश्यकता है। यह शिक्षा यज्ञसे-हविसे अर्थात् आत्मसमर्पणसे-होती है। हवि जैसा जगत् की भलाई के लिये स्वयं जल जाता है, पूर्णतया समर्पित होता है वैसा मनुष्यको आत्मसमर्पण करना चाहिये। आत्मसमर्पण की शिक्षासे अपने संकल्प को शिक्षित करना चाहिये। इस रीतिसे सुशिक्षित हुआ यह काम (महता वीर्येण) बडे वीर्य-पराक्रम-से युक्त होता है और मनुष्य इसके प्रभावसे अपने सब शत्रु दूर कर सकता है।

यन्मे मनसो न प्रियं न चक्षुषः यन्मे नाभिनन्दति। (मं० २)

"जो मनको और आंखको प्रिय नहीं होता है और जो अन्य इंद्रियोंको भी अप्रिय होता है, जो अपने आत्माको सन्तोष नहीं देता। " उसको दूर करना इसी सुशिक्षित कामसे होता है। इसीसे (अदः उत् भिंदेयं) अपने ऊपरका दबाव हटाकर, उसका भेदन करके अपनी उच्च अवस्था की जा सकती है। यह सब मनुष्य के प्रयत्नसे साध्य होनेवाली बात है। परंतु यह तब होगा जब कि मनुष्यकी कामना सुशिक्षायुक्त होगी, अन्यथा यही प्रचंड शक्ति इसका नाश करेगी।

(कामः उग्रः ईशानः) काम बडा उग्र अर्थात् प्रतापी है और वह ईश्वर है अर्थात् मनुष्यकी भवितव्यताका वह स्वामी है। क्यों कि मनुष्यका भूत, भविष्य, वर्तमान यही घडता है। जैसा यह बनाता है वैसी मनुष्यकी स्थिति बनती है। अतः इसका महत्त्व बडा भारी है। इसका ऐसा विलक्षण प्रभाव है इसीलिये इसकी सहायतासे मनुष्य निःसन्देह उन्नति प्राप्त कर सकता है—

दुरितं अप्रजस्तां अ-स्व-गतां अवर्तिं मुञ्च। (मं० ३)

"पाप, संतान न होना, निर्धनता और विपत्ति इनको दूर कर सकता है।" मनुष्यकी भी यही इच्छा हुआ करती है। कोई मनुष्य नहीं चाहता कि मुझे पाप लगे, संतान न हो, दारिद्र्य मेरे पास आजाय और मैं विपत्तीमें सडता रहूं, ऐसा कोईभी नहीं चाहता। परंतु ये संपूर्ण विपत्तियां मनुष्यको भोगनी पडती हैं, इसका कारण यह है कि मनुष्य की कामना अशिक्षित होती है, वह विपरीत संकल्प करती है और उसका फल विपत्ति-रूप उसे भोगना ही पडता है। इस कामकी पुत्री वाणीरूपी धेनु है, इसका वर्णन इस प्रकार है—

ते दुहिता धेनुः यां कवयो वाचं आहुः। (मं० ५)

" कामकी पुत्री एक धेनु है जिसको कवि लोग वाणी कहते हैं। " यह वाणी भी

काम के समान हि बडी प्रभावशालिनी है । यदि यह वाणी उत्तम रीतिसे प्रयुक्त की गई तो शत्रु मित्र बनते हैं और यदि बुरी तरहसे इसका प्रयोग किया गया तो मित्र शत्रु होते हैं । इसलिये काम को सुशिक्षित करनेके समय वाणीको भी शिक्षित करना अत्यन्त आवश्यक है, यह बात अनुभवसिद्ध ही है ।

उग्रः वाजी कामः मम अध्यक्षः मह्यं असपत्नं कृणोतु । (मं० ७)

" प्रतापी, बलवान् काम मेरा अध्यक्ष है वह मुझे शत्रुरहित करे । " अर्थात् यह काम किंवा संकल्प हरएक मनुष्यका अधिष्ठाता है । अधिष्ठाता वह होता है कि जो सतत साथ रहता हुआ निरीक्षण करता है । यही कामका कार्य है । यह मनुष्योंके चालचलन का अधिष्ठाता होकर निरीक्षण करता है । यदि अधिष्ठाता

तो अच्छी सहायता होती है और यदि बुरा रहा तो हीन प्रवृत्ती करवा ले जाता है, जिसका परिणाम खराब होता है । इसलिये प्रार्थना की

विश्वे देवा मम नाथं भवन्तु । सर्वे देवा मम ९५ .

" सब देव मेरे रक्षक बनें, सब देव मेरे यज्ञका स्वीकार करें । द्वारा मेरी सहायता होती रही, तो निःसंदेह मेरी कामना शुद्ध हो जायगी । अतः यह मेरी प्रार्थना सब देव सुनें और कृपा देव " काम-ज्येष्ठाः " अर्थात् इनमें काम हि श्रेष्ठ है, सब देवा श्रेष्ठ है, क्यों कि जगत् रचना करनेमें सब देव सहायता करतेहैं काम-संकल्प-जबतक जाग नहीं उठता, तबतक कोई अन्य दे आपको नहीं लगा सकते । यह कामका महत्त्व है । :नु सबसे पहिले संकल्प होता है, तत्पश्चात् इंद्रियव्यापार होजाते का-संकल्पका : ८ का परमात साथ संबंध होता . काम श्रेष्ठ

परमात्मा

काम, संकल्प [

महतत्त्व

चन्द्रमाः

इन्द्र

सूर्य

वायु

अग्नि	वाणी
जल	वीर्य

इस रीतिसे सब देवोंका अधिष्ठाता काम है। शरीरमें जो देव हैं वे विश्वके देवोंके सूक्ष्म अंशही हैं, अत दोनों स्थानोंमें देवोंका संबंध एक जैसाही है। जैसा संकल्प होता है वैसे अन्यान्य देव शरीरमें तथा जगत्में अनुकूलतासे कार्य करते हैं। अपने शत्रु नाश पावें और मेरा विजय जगत्में होवे, यही सबकी भावना सर्वसाधारण होती है अतः कहा है—

अवधीत्कामो मम ये सपत्नाः। उरुं लोकमकरन्मह्यमेधतुम्।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रो, मह्यं षडुर्वीर्घृतमा वहन्तु ॥ (मं० ११)

" संकल्पहि शत्रुओंका नाश करता है, संकल्प हि वृद्धी करनेके लिये विस्तृत कार्य-क्षेत्र देता है। संकल्पसे हि चारों दिशाएं मनुष्यके सामने नम्र होती हैं और संकल्पसे हि सब भूप्रदेशोंसे घृतादि अन्नभोग प्राप्त होते हैं।" यदि किसीने संकल्पहि इस प्रकार नहीं किया तो उसका क्या होगा? पाठक विचार की दृष्टीसे जगत्में देखें, तो उनको स्पष्ट दिखाई देगा कि इस जगत्के व्यवहारमें सर्वत्र 'काम' की हीं प्रेरणा हो रही है, हरएक कर्मके पीछे काम होता है, यदि किसी स्थानपर काम न रहा तो कोई कार्य बनता नहीं। अतः इस मंत्रमें कहा है कि जो भी कुछ इस जगत्में बन रहा है कामकी प्रेरणासे हि बन रहा है।

पूर्वोक्त कोष्टकमें दर्शाया है कि अग्नि, इन्द्र, सोम अथवा अन्य देव ये सब कामकी प्रेरणासे कार्य कर रहे हैं, उनके प्रतिनिधि वाणी, मन और वित्त ये भी संकल्पसेहि अपने अपने कार्यमें प्रेरित हो रहे हैं। इसी रीतिसे (अग्निः यवः) अग्नि शत्रु दूर करता है, अन्य देवभी शत्रुओंको दूर करते हैं, यह सब पूर्वोक्त रीतिसे हि जानना चाहिये।

काम का कवच।

यह काम एक ऐसा कवच पहनाता है, कि जिससे शत्रुके शस्त्र उसके उपर लगतेहि नहीं, देखिये—

यत्ते काम शर्म त्रिवरूथमुद्भु ब्रह्म वर्म विततमनतिव्याध्यं कृतम्।
(मं० १६)

" यह कामका एक विलक्षण कवच है जो तीनों केन्द्रोंमें उत्तम रक्षा करता है, इसके

काम के समान हि बडी प्रभावशालिनी है। यदि यह वाणी उत्तम रीतिसे प्रयुक्त की गई तो शत्रु मित्र बनते हैं और यदि बुरी तरहसे इसका प्रयोग किया गया तो मित्र शत्रु होते है। इसलिये काम को सुशिक्षित करनेके समय वाणीको भी शिक्षित करना अत्यन्त आवश्यक है, यह बात अनुभवसिद्ध ही है।

उग्रः वाजी कामः मम अध्यक्षः मह्यं असपत्नं कृणोतु। (मं० ७)

" प्रतापी, बलवान् काम मेरा अध्यक्ष है वह मुझे शत्रुरहित करे।" अर्थात् यह काम किंवा संकल्प हरएक मनुष्यका अधिष्ठाता है। अधिष्ठाता वह होता है कि जो सतत साथ रहता हुआ निरीक्षण करता है। यही कामका कार्य है। यह मनुष्योंके चालचलन का अधिष्ठाता होकर निरीक्षण करता है। यदि अधिष्ठाता शिक्षित हुआ, तो अच्छी सहायता होती है और यदि बुरा रहा तो हीन प्रवृत्ती करता है, बुरे मार्गसे ले जाता है, जिसका परिणाम खराब होता है। इसलिये प्रार्थना की है कि--

विश्वे देवा मम नाथं भवन्तु। सर्वे देवा मम हवमायन्तु॥ (मं०७)

" सब देव मेरे रक्षक बनें, सब देव मेरे यज्ञका स्वीकार करें।" इस प्रकार देवोंके द्वारा मेरी सहायता होती रही, तो निःसंदेह मेरी कामना शुद्ध होगी और मेरी उन्नति हो जायगी। अतः यह मेरी प्रार्थना सब देव सुनें और कृपा करके मेरी रक्षा करें। ये देव " काम-ज्येष्ठाः " अर्थात् इनमें काम हि श्रेष्ठ है, सब देवोंमें यह काम देव सबसे श्रेष्ठ है, क्यों कि जगत् रचना करनेमें सब देव सहायता करतेही हैं, परंतु परमात्माका काम-संकल्प-जबतक जाग नहीं उठता, तबतक कोई अन्य देव रचनाके कार्यमें अपने आपको नहीं लगा सकते। यह कामका महत्त्व है। मनुष्यके व्यवहारमें भी देखिये सबसे पहिले संकल्प होता है, तत्पश्चात् इंद्रियव्यापार होजाते हैं। इसीलिये सर्वत्र काम-का-संकल्पका-महत्त्व वर्णन किया है। जीवात्माका परमात्मामें तथा कामका अन्य देवोंके साथ संबंध होता है। यह देखनेसेहि सब देवोंमें काम श्रेष्ठ कैसा है यह जान सकते हैं-

परमात्मा	जीवात्मा
काम, संकल्प [अधिष्ठाता]	काम, संकल्प
महतत्त्व	बुद्धी
चन्द्रमाः	मन
इन्द्र	चित्त
सूर्य	नेत्र
वायु	प्राण

अग्नि　　　　वाणी
जल　　　　वीर्य

इस रीतिसे सब देवोंका अधिष्ठाता काम है। शरीरमें जो देव है वे विश्वके देवोंके सूक्ष्म अंशही हैं, अत दोनों स्थानोंमें देवोंका संबंध एक जैसाही है। जैसा संकल्प होता है वैसे अन्यान्य देव शरीरमें तथा जगत्‌में अनुकूलतासे कार्य करते हैं। अपने शत्रु नाश पावें और मेरा विजय जगत्‌में होवे, यही सबकी भावना सर्वसाधारण होती है अतः कहा है—

अवधीत्कामो मम ये सपत्नाः। उरुं लोकमकरन्मह्यमेधतुम्।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रो, मह्यं षडुर्वीर्घृतमा वहन्तु ॥ (मं० ११)

" संकल्पहि शत्रुओंका नाश करता है, संकल्प हि वृद्धी करनेके लिये विस्तृत कार्य-क्षेत्र देता है। संकल्पसे हि चारों दिशाएं मनुष्यके सामने नम्र होती हैं और संकल्पसे हि सब भूप्रदेशोंसे घृतादि अन्नभोग प्राप्त होते है।" यदि किसीने संकल्पहि इस प्रकार नहीं किया तो उसका क्या होगा? पाठक विचार की दृष्टीसे जगत्‌में देखें, तो उनको स्पष्ट दिखाई देगा कि इस जगत्‌के व्यवहारमें सर्वत्र ' काम ' की ही प्रेरणा हो रही है, हरएक कर्मके पीछे काम होता है, यदि किसी स्थानपर काम न रहा तो कोई कार्य बनता नहीं। अतः इस मंत्रमें कहा है कि जो भी कुछ इस जगत्‌में बन रहा है कामकी प्रेरणासे हि बन रहा है।

पूर्वोक्त कोष्टकमें दर्शाया है कि अग्नि, इन्द्र, सोम अथवा अन्य देव ये सब कामकी प्रेरणासे कार्य कर रहे है, उनके प्रतिनिधि वाणी, मन और चित्त ये भी संकल्पसेहि अपने अपने कार्यमें प्रेरित हो रहे हैं। इसी रीतिसे (अग्निः यवः) अग्नि शत्रु दूर करता है, अन्य देवभी शत्रुओंको दूर करते हैं, यह सब पूर्वोक्त रीतिसे हि समझना चाहिये।

काम का कवच ।

यह काम एक ऐसा कवच पहनाता है, कि जिससे शत्रुके आघात अपने ऊपर लगतेहि नहीं, देखिये—

यत्ते काम शर्म त्रिवरूथमुद्भु ब्रह्म वर्म विततमनतिव्याध्यं कृतम्।
(मं० १६)

" यह कामका एक विलक्षण कवच है जो तीनों केन्द्रोंमें उत्तम रक्षा करता है, इससे

(अनु-अतिव्याधि) शत्रुके शस्त्रोंका प्रहार अपने ऊपर नहीं लगता, यह (ब्रह्म वर्म) ज्ञानका कवच है। इस ब्रह्मवर्मका वर्णन इससे पूर्व इसी काण्डमें द्वितीय सूक्तके दशम मंत्रमें आया है। वहां की व्याख्यामें इसका वर्णन पाठक अवश्य देखें।

यह काम (प्रथमः जज्ञे) सबसे पूर्व उत्पन्न हुआ, इसके बाद अन्य देव जाग उठे हैं अतः अन्य देव इसको प्राप्त कर नहीं सकते। जो हमारे पूर्व दो हजार वर्ष हुए होंगे, उनको हम कदापि प्राप्त नहीं कर सकते। इसी प्रकार काम की उत्पत्ति पहिले और अन्य देवोंकी बाद होनेसे अन्य देव कामको प्राप्त नहीं कर सकते यह बिलकुल ठीक है। अतः कहा है--

कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महान्०। (मं० १९)

" काम सबसे पहिले उत्पन्न हुआ अतः इसको देव प्राप्त नहीं कर सकते और पितर अथवा मर्त्यभी नहीं प्राप्त कर सकते; क्योंकि पितर और मर्त्य तो देवोंके पश्चात् उत्पन्न हुए हैं। इस कारण यह काम सबसे उच्च और समर्थ हैं, इसकी श्रेष्ठता सदा सर्वदा स्थिर रहनेवाली है। अतः इसका सामर्थ्य सर्वतोपरि है।

आगे मंत्र २१ से २४ तक के चार मन्त्रोंमें काम सबसे श्रेष्ठ है यही बात कही है। संपूर्ण पदार्थोंसे, स्थिरचरोंसे, अर्थात् सबसे यह श्रेष्ठ है। पंचमहाभूतोंसे, सब प्राणियोंसे, सूर्य और चन्द्रमासे, तथा सब अन्योंसे काम श्रेष्ठ और समर्थ है। अतः अन्तिम मंत्रमें प्रार्थना यह है कि--

यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्रा याभिः सत्यं भवति यद्वृणीषे।
ताभिष्ट्वमस्माँ अभि संविशस्वान्यत्र पापीरप वेशया धियः॥ (मं०२५)

"कामके अंदर जो शुभ और कल्याणकारी भाग है, जिससे सब सत्यकी सिद्धी होती है, वह शुभ भाग मेरे अंदर घुसजाय और जो पापका भाग है, वह दूर हो।" संकल्प एक बडीभारी शक्ति है, उससे पापभी होगा और पुण्यभी। इस कारण मनुष्य को उचित है कि वह सदा शिवसंकल्प करे और पाप संकल्पसे दूर रहे। इस रीतिसे मनुष्य अपनी कामना शुभ कराके सदा उन्नतिके पथसे ऊपर जा सकता है॥

गृहनिर्माण ।

(१)

(ऋषिः-भृग्वंगिराः । देवता-शाला)

उपमितां प्रतिमितामथों परिमितामुत ।
शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि ॥ १ ॥

यत् ते नद्धं विश्ववारे पाशो ग्रन्थिश्च यः कृतः ।
बृहस्पतिरिवाहं बलं वाचा वि स्रंसयामि तत् ॥ २ ॥

अर्थ- (विश्ववारायाः शालायाः उपमितां) सब भयके निवारक घरके स्तंभों, (प्रतिमितां) स्तंभोंके जोडों (अथो उत परिमितां) और उत्तम बंधनोंके (नद्धानि वि चृतामसि) ग्रंथियोंको हम बांधते हैं ॥ १ ॥

हे (विश्व-वारे) सब दुःखोंका निवारण करनेवाले घर ! (यत् ते नद्धं) जो तेरा बन्धन है, (यः पाशः ग्रन्थिः च कृतः) जो पाश और ग्रंथि पहिले किये हैं, (बृहस्पतिः वाचा बलं इव) बृहस्पति अपनी वाणीके द्वारा जैसा शत्रुसैन्यका नाश करता है, उस प्रकार (तत् विस्रंसयामि) उनको मैं खोलता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ— बहुत कष्टोंको दूर करनेके लिये घर बनाया जाता है। उस घरके स्तंभों, सहारोंकी लकडियों, टट्टियोंको तथा छप्परकी लकडियोंको हम उत्तम रीतिसे सब जोड देते हैं ॥ १ ॥

जो बंधन और ग्रंथियां तथा जो और पाश पहिले बांधे थे, उनको मैं अब ढीला करता हूं। जिस प्रकार ज्ञानी अपनी वाणीसे शत्रुसैन्यको ढीला बना देता है ॥ २ ॥

आ ययाम सं बबर्ह ग्रन्थींश्चकार ते दृढान् ।
परूंषि विद्वाञ्छस्तेवेन्द्रेण वि चृतामसि ॥ ३ ॥

वंशानां ते नहनानां प्राणाहस्य तृणस्य च ।
पक्षाणां विश्ववारे ते नद्धानि वि चृतामसि ॥ ४ ॥

संदंशानां पलदानां परिष्वञ्जल्यस्य च ।
इदं मानस्य पत्न्या नद्धानि वि चृतामसि ॥ ५ ॥

अर्थ- (आययाम) इकट्ठा किया, (सं बबर्ह) जोड दिया और (ते दृढान् ग्रंथीन् चकार) तेरे गांठोंको सुदृढ कर दिया है। (परूंषि विद्वान् शस्ता इव) जोडोंको जान कर काटनेवालेके समान (इन्द्रेण विचृतामसि) इन्द्रकी सहायतासे हम बांध देते हैं ॥ ३ ॥

हे (विश्व-वारे) सब कष्टोंका निवारण करनेवाले घर! (ते वंशानां नहनानां) तेरे बांसों और बंधनों तथा (प्राणाहस्य तृणस्य च) जोडों और घासका तथा (ते पक्षानां नद्धानि) तेरे दोनों ओरके बंधनोंको (वि चृतामसि) मैं बांधता हूं ॥ ४ ॥

(मानस्य पत्न्याः) प्रमाण लेनेवालेके द्वारा पालित हुए घरके (संदंशानां पलदानां) कैंचियोंके और चटाइयोंके (च परिष्वंजल्यस्य) तथा विलासस्थानके (इदं नद्धानि विचृतामसि) इस प्रकारके बंधनोंको मैं बांधता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ— पहिले सब सामान इकट्ठा किया, उसको यथास्थान जोड दिया, उनके जोड बडे मजबूत किये। जोडनेके स्थानोंको यथायोग्य रीतिसे काटनेका ज्ञान जिसको है, उसके समानहि काटा और सबको प्रभुत्वके साथ बांधा है ॥ ३ ॥

घरके बांसों, बंधनों, जोडोंके स्थान, घास और दोनों ओरके बंधनोंको योग्य रीतिसे मैं मजबूत बांध देता हूं ॥ ४ ॥

प्रमाणसे बंधे हुए इस घरके कैंचियों, चटाइयों, और आन्तरिक स्थानोंके सब बंधनोंको मैं अच्छी प्रकार बांधता हूं ॥ ५ ॥

यानि तेन्तः शिक्यान्याबेधू रण्याय कम् ।
प्र ते तानि चृतामसि शिवा मानस्य पत्नी न उद्धिता तन्वे भव ॥६॥
हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः ।
सदो देवानामसि देवि शाले ॥ ७ ॥
अक्षुमोपशं विततं सहस्राक्षं विषूवति ।
अवनद्धमभिहितं ब्रह्मणा वि चृतामसि ॥ ८ ॥

अर्थ- (यानि ते अन्तः शिक्यानि) जो तेरे अन्दर छींकें (रण्याय कं आवेधुः) रमणीयताके लिये सुखसे बांधे हैं, (ते तानि प्रचृतामसि) तेरेसे उनको हम बांधते हैं। तू (मानस्य पत्नी) प्रमाण लेनेवालेके द्वारा पालित होनेवाली (उद्धिता) ऊपर उठायी हुई (नः तन्वे शिवा भव) हमारे शरीरके लिये कल्याणकारिणी हो ॥ ६ ॥

हे (शाले देवि) गृहरूपी देवते ! (हविर्धानं) हविष्य अन्नका स्थान, (अग्निशालं) अग्निशाला अथवा यज्ञशाला, (पत्नीनां सदनं) स्त्रियोंके रहनेका स्थान, (सदः) रहनेका स्थान, और (देवानां सदः) देवताओं-का स्थान (असि) तू है ॥ ७ ॥

(विपूवति ओपशं) आकाश रेषापर आभूषण रूप हुआ (विततं सहस्राक्षं अक्षुं) फैला हुआ हजारों छिद्रोंवाला जाल (अवनद्धं अभिहितं) बंधा और तना हुआ (ब्रह्मणा वि चृतामसि) ज्ञानसे बांधते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ- घरके अन्दर जो छींकें रखीं हैं, जिनपर सुख देनेवाले पदार्थ भर रखे है, उनको हम उत्तम रीतिसे बांध देते हैं। इस प्रकार बनाई यह उच्च शाला हमारे शरीरोंको सुख देनेवाली हो ॥ ६ ॥

घरके अन्दर धान्यका स्थान, हवनका कमरा, स्त्रीयोंका बैठनेका स्थान, अन्य मनुष्योंके लिये बैठने उठनेका स्थान और देवोंके लिये स्थान होवे ॥ ७ ॥

ऊपरके भागमें भूषणके समान दिखाई देनेवाला, हजार सुंदर छिद्रों-वाला फैला हुआ जाल हम उत्तम रीतिसे फैलाकर और तानकर बांधते हैं ॥ ८ ॥

यस्त्वा शाले प्रतिगृह्णाति येन चासिं मिता त्वम् ।
उभौ मानस्य पत्नि तौ जीवंतां जरदष्टी ॥ ९ ॥
अमुत्रैनमा गच्छताद् दृढा नद्धा परिष्कृता ।
यस्यास्ते विचृतामस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः ॥ १० ॥ (६)
यस्त्वा शाले निमिमाय संजभार वनस्पतीन् ।
प्रजायै चक्रे त्वा शाले परमेष्ठी प्रजापतिः ॥ ११ ॥
नमस्तस्मै नमो दात्रे शालापतये च कृण्मः ।
नमोग्नये प्रचरते पुरुषाय च ते नमः ॥ १२ ॥

अर्थ– हे (मानस्य पत्नि शाले) प्रमाण लेनेवालेके द्वारा पालित घर ! (यः त्वा प्रतिगृह्णाति) जो तुझे लेता है, (येन च त्वं मिता असि) जिसने तेरा प्रमाण किया है, (उभौ तौ) दोनों वे (जरदष्टी जीवतां) वृद्धावस्थातक जीवित रहें ॥ ९ ॥

(यस्याः ते) जिस तेरे (अंगं अंगं परुः परुः) प्रत्येक अंग और प्रत्येक जोड (विचृतामसि) हमने मजबूत बनाया है, वह तू (अमुत्र दृढा नद्धा परिष्कृता) वहां सुदृढ, बंधी हुई और सुसिद्ध होकर (एनं आगच्छतात्) इसके पास आ ॥ १० ॥

हे शाले ! (यः त्वा निमिमाय) जिसने तुझे बनाया, और जिसने (वनस्पतीन् संजभार) वृक्षोंको काटकर जमाया, हे शाले ! (परमेष्ठी प्रजापतिः) परमेष्ठी प्रजापतिने (त्वा प्रजायै चक्रे) तुझे प्रजाके लिये निर्माण किया ॥ ११ ॥

(तस्मै दात्रे नमः) उस काटनेवालेको नमस्कार । (शालापतये नमः कृण्मः) शालाके स्वामीको नमस्कार करते हैं । (नमः प्रचरते अग्नये)

भावार्थ— यह प्रमाणसे बंधा हुआ घर है, जिसने इसका माप लिया और जिसने यह बनाया वे दीर्घकाल तक जीवित रहें ॥ ९ ॥

इस घरका प्रत्येक भाग और हरएक पुर्जा अच्छी प्रकार सुदृढ बनाया है, इस प्रकार सुदृढ बना हुआ यह घर इसके आधीन होवे ॥ १० ॥

प्रजाका पालन करनेकी इच्छा करनेवाले, उच्च स्थानमें स्थिर रहनेवाले बडे कारीगरने इस प्रमाणसे बनाया और उस कार्यके लिये अनेक वृक्षोंको काटा है ॥ ११ ॥

गोभ्यो अश्वेभ्यो नमो यच्छालायां विजायते ।
विजावति प्रजावति वि ते पाशांश्चृतामसि ॥ १३ ॥
अग्निमन्तश्छादयसि पुरुषान् पशुभिः सह ।
विजावति प्रजावति वि ते पाशांश्चृतामसि ॥ १४ ॥
अन्तरा द्यां च पृथिवीं च यद् व्यचस्तेन शालां प्रति गृह्णामि त इमाम् ।
यदन्तरिक्षं रजसो विमानं तत् कृण्वेहमुदरं शेवधिभ्यः ॥
तेन शालां प्रति गृह्णामि तस्मै ॥ १५ ॥

चलनेवाले अग्निके लिये नमस्कार और (ते पुरुषाय च नमः) तेरे पुरुषके लिये नमस्कार है ॥ १२ ॥

(यत् शालायां विजायते) जो शालामें होता है उस (गोभ्यः अश्वेभ्यः नमः) गौओं और घोडोंके लिये नमस्कार । हे (विजावति प्रजावति) उत्पादक और संतानयुक्त घर ! (ते पाशान् वि चृतामसि) तेरे पाशोंको हम बांधते हैं ॥ १३ ॥

(पशुभिः सह पुरुषान्) पशुओंके साथ मनुष्योंको और (अग्निं) अग्निको (अन्तः छादयसि) अन्दर गुप्त रखती है । हे (विजावति प्रजावति) उत्पादक और सन्तानयुक्त घर ! तेरे पाशोंको हम बांधते हैं ॥ १४ ॥

(द्यां च पृथिवीं च अन्तरा) द्यु और पृथ्वीके मध्यमें (यत् व्यचः) जो विस्तृत अवकाश है, (तेन ते इमां शालां प्रति गृह्णामि) उससे तेरे इस घरको मैं स्वीकारता हूं । (यत् अन्तरिक्षं रजसः विमानं) जो अन्तरिक्ष-लोकका बीचमें परिमाण है, (तत् अहं शेवधिभ्यः उदरं कृण्वे) वह मैं खजानोंके लिये उदर जैसा स्थान करता हूं । (तेन तस्मै शालां प्रति गृह्णामि) उससे उसके लिये मैं इस घरका स्वीकार करता हूं ॥ १५ ॥

भावार्थ- वृक्षोंको काटनेवाले, घरका रक्षण करनेवाले, अग्निको अंदर रखनेवाले तथा अन्य मनुष्योंके लिये मैं नमस्कार करता हूं ॥ १२ ॥

घरमें उत्पन्न होनेवाले सब घोडे और गौओंके लिये मैं नमस्कार करता हूं । इस घरको सुदृढ बनाता हूं ॥ १३ ॥

इस घरके अन्दर मनुष्य, पशु और अग्नि रहते हैं अतः इस सन्तान-युक्त और उपजाऊ घरके बंधनोंको मैं सुदृढ करता हूं ॥ १४ ॥

ऊर्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निर्मिता मिता ।
विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः ॥ १६ ॥
तृणैरावृता पलदान् वसाना रात्रीव शाला जगतो निवेशनी ।
मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वती ॥ १७ ॥
इटस्य ते वि चृताम्यपिनद्धमपोर्णुवन् ।
वरुणेन समुब्जितां मित्रः प्रातर्व्युब्जतु ॥ १८ ॥

अर्थ-हे शाले ! (ऊर्जस्वती पयस्वती) तू अन्न युक्त और रसपानयुक्त (पृथिव्यां निमिता मिता) पृथ्वीपर माप लेकर निर्माण की है। तू (विश्वान्नं बिभ्रती) सब प्रकारके अन्नका धारण करनेवाली (प्रतिगृह्णतः मा हिंसीः) लेनेवालेका नाश न कर ॥ १६ ॥

(तृणैः आवृता) घाससे आच्छादित, (पलदान् वसाना) चटाईयोंसे ढंकी (मिता शाला) माप ली हुई शाला (रात्री इव) रात्रीके समान (जगतः निवेशनी) जगत्‌को आश्रय देनेवाली (पद्वती हस्तिनी इव) उत्तम पांववाली हाथिनीके समान (पद्वती पृथिव्यां तिष्ठसि) उत्तम स्तंभोंवाली होकर पृथ्वीपर तू ठहरती है ॥ १७ ॥

(ते इटस्य अपिनद्धं) तेरी चटाईसे बंधे हुएको (अपऊर्णुवन्) आच्छादित करता हुआ (विचृतामि) मैं बांधता हूं। (वरुणेन समुब्जितां) वरुणने जलसे सीधी की हुईको (मित्रः प्रातः व्युब्जतु) सूर्य सवेरे सीधी बना देवे ॥

भावार्थ-पृथ्वी और द्युलोकमें जो अन्तर है उसमें यह घर निर्माण हुआ है। इसके मध्यभागमें मैं धनसंग्रह करनेका स्थान करता हूं। इस खजानेके स्थानके साथ जो घर होगा वही मैं लेता हूं ॥ १५ ॥

घरमें सब प्रकारका अन्न, रसपानका साधन, जल आदि सदा उपस्थित हो। घर प्रमाणसे बनाया जावे। सब प्रकारका अन्न उसमें सिद्ध हो। यह घर कभी किसीका नाश नहीं कर सकता ॥ १६ ॥

इस घरपर घासका छप्पर रखा है, चारों ओर चटाइयोंका वेष्टन है, सब स्थान प्रमाणसे रखें हैं, इस प्रकारका यह घर सुदृढ स्तंभोंपर वैसा सुरक्षित रहता है, जिस प्रकार हाथिन अपने चार पावोंपर सुरक्षित रहती है ॥ १७ ॥

ब्रह्मणा शालां निमितां कविभिर्निमितां मिताम्।
इन्द्राग्नी रक्षतां शालाममृतौ सोम्यं सदः ॥ १९ ॥
कुलायेधि कुलायं कोशे कोशः समुब्जितः।
तत्र मर्तो वि जायते यस्माद् विश्वं प्रजायते ॥ २० ॥ (७)
या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते।
अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवा शये ॥ २१ ॥

अर्थ-(ब्रह्मणा निमितां शालां) ज्ञानीने निर्माण किई हुई शालाकी और (कविभिः मितां निमितां) कवियोंने प्रमाणसे रची हुई (शालां) शालाकी (अमृतौ इन्द्राग्नी रक्षतां) अमर इन्द्र और अग्नि रक्षा करें। यह (सौम्यं सदः) सोम-वनस्पतियों-का घर है ॥ १९ ॥

(कुलाये अधि कुलायं) घोसलेपर घोसला और (कोशे कोशः समुब्जितः) कोशपर कोश सीधा रखा है। (तत्र मर्तः विजायते) वहां मर्त्य उत्पन्न होता है। (यस्मात् विश्वं प्रजायते) जिससे सब उत्पन्न होता है ॥ २० ॥

(या द्विपक्षा) जो दो पक्षवाली (या चतुष्पक्षा षट्पक्षा निमीयते) और जो चार तथा छः पक्षोंवाली बनायी जाती है, (अष्टापक्षां दशपक्षां) आठ पक्षों तथा दशपक्षोंवाली (मानस्य पत्नीं शालां) प्रमाणसे मापनेवाले-द्वारा पालित शालाका (गर्भः अग्निः इव) गूढस्थानमें स्थित अग्निके समान मैं (आशये) आश्रय लेता हूं ॥ २१ ॥

भावार्थ- यह स्थान पहिले चटाईसे आच्छादित था, उसीको मैं सुदृढ बनाता हूं। रात्रीके समय इस घरको चन्द्र और दिनके समय सूर्य सरलता का मार्ग दिखाते हैं ॥ १८ ॥

ज्ञानी और कवियोंने इस घरकी रचना प्रमाणसे की है। इसकी रक्षा इन्द्र और अग्नि करें। यह घर शान्ति देनेवाला हो ॥ १९ ॥

घोसलेपर घोसला अथवा कोशपर कोश रखनेके समान यहां पहिले मजलेपर दूसरा मजला रखा है। इसमें मनुष्यका जन्म होता है, इसीसे सबकी उत्पत्ति होती है ॥ २० ॥

यह घर दो, चार, छः, आठ या दस कक्षावाला होता है, जैसा पेटमें गर्भ सुरक्षित रहता है उसी प्रकार मैं इसके आश्रयमें रहता हुआ सुरक्षित रहता हूं ॥ २१ ॥

प्र॒तीचीं॑ त्वा प्र॒तीची॒नः शा॑ले॒ प्रैम्यहिं॑सतीम् ।
अ॒ग्निर्ह्य॒1॑न्तरार्प॑श्च॒र्तस्य॑ प्रथ॒मा द्वाः ॥ २२ ॥

इ॒मा आपः॒ प्र भ॑राम्ययक्ष्मा य॑क्ष्म॒नाश॑नीः ।
गृ॒हानुप॒ प्र सी॑दाम्य॒मृते॑न स॒हाग्निना॑ ॥ २३ ॥

मा नः॒ पाशं॒ प्रति॑ मुचो गु॒रुर्भा॒रो ल॒घुर्भ॑व ।
व॒धूमि॑व त्वा शाले यत्र॒कामं॑ भरामसि ॥ २४ ॥

अर्थ- हे शाले! (प्रतीचीनः) पश्चिमकी ओर मुख करनेवाला मैं (प्रतीचीं अहिंसतीं त्वा प्रैमि) पश्चिमाभिमुख खडी और न हिंसा करनेवाली तुझ शालाके पास मैं आता हूं। (अग्निः आपः च अन्तः) अग्नि और जल अन्दर हैं जो (ऋतस्य प्रथमा द्वाः) यज्ञके पहिले द्वार हैं। ॥ २२ ॥

(इमाः अयक्ष्माः यक्ष्मनाशनीः आपः) ये रोगरहित, रोगनाशक जल (प्रभरामि) शालामें भरता हूं। (अमृतेन अग्निना सह) जल और अग्निके साथ (गृहान् उप प्र सीदामि) घरोंके प्रति मैं आता हूं ॥ २३ ॥

हे शाले!(नः पाशं मा प्रतिमुचः) हमपर पाश न छोड, (गुरुः भारः, लघुः भव) बडे भार को हलका करनेवाली हो। (वधूं इव) वधूके समान (त्वा यत्र कामं भरामसि) तुझे इच्छाके अनुसार भर देते हैं ॥ २४ ॥

भावार्थ-घरकी पश्चिमकी ओर मुख करके घरमें मनुष्य प्रवेश करे। घर में अग्नि और जल सदा रखा जावे। ये ही दो पदार्थ गृहस्थाश्रमके यज्ञको सिद्ध करनेवाले हैं। इस प्रकारका घर सदा सुख देनेवाला होगा ॥ २२ ॥

जहां रोग दूर करनेवाला पानी होगा, वहांसे वह घरमें भरना चाहिये। घरमें जल और अग्नि सदा रहने चाहिये। ऐसे घरमें मनुष्य निवास करे ॥ २३ ॥

इस प्रकारके घरमें रहनेसे संसारका बडा भार बहुत हलका होगा। जिस प्रकार कुलवधूका संरक्षण और पोषण लोग करते हैं उसी प्रकार ऐसे घरकी रक्षा करना चाहिये और इस घरमें उत्तमोत्तम पदार्थ लाकर रखने चाहियें ॥ २४ ॥

प्राच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥ २५ ॥
दक्षिणाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥ २६ ॥
प्रतीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥ २७ ॥
उदीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥ २८ ॥
ध्रुवाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥ २९ ॥
ऊर्ध्वाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥ ३० ॥
दिशोदिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥ ३१ ॥ (८)

अर्थ-(शालायाः प्राच्याः दक्षिणायाः) घरकी पूर्व और दक्षिण (प्रतीच्याः उदीच्याः) पश्चिम और उत्तर, (ध्रुवायाः ऊर्ध्वायाः) ध्रुव और ऊर्ध्व (दिशोदिशः) दिशा और उपदिशाओंके (महिम्ने नमः) महिमाके लिये नमस्कार हो, तथा (स्वाह्येभ्यः देवेभ्यः स्वाहा) उत्तम वर्णन करने योग्य देवोंके लिये (स्वाहा=सु+आह) उत्तम प्रशंसा कहते हैं ॥ २५-३१ ॥

भावार्थ— घरकी चारों दिशाओं और उपदिशाओंमें जो सुंदर दृश्यों की महिमा होगी, उसकी सत्कारपूर्वक प्रसन्नता बढानी चाहिये। उत्तम प्रशंसनीय पृथ्वी, आप, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य, आदि देवोंकी प्रसन्नता इस घरपर रहेगी, ऐसा आचार व्यवहार करना चाहिये ॥ २५—३१ ॥

घरकी प्रसन्नता।

गृहनिर्माण करनेका और उसको आनंदित, प्रसन्न तथा उत्तम स्वास्थ्यसंपन्न रखनेका उपदेश इस सूक्तमें है। घर उत्तम प्रमाणसे निर्माण किया जावे, उसके स्तंभ, उपरकी लकडियां, छप्परका लकडी सामान सब सुंदर तथा सुव्यवस्थित होवे और सब जोड अच्छे प्रकार मजबूत किये जावें। किसी स्थानपर कमजोरी न रहे। क्योंकि सब घर-वालोंका स्वास्थ्य घरकी सुरक्षितता पर निर्भर है। ऐसा सुंदर और मजबूत घर रहने-वालोंके कष्टोंको दूर कर सकता है, परंतु कमजोर और अशक्त तथा बेख्यालसे बनाया गया घर रहनेवालोंका कब नाश करेगा, इसकाभी पता नहीं होगा।

सुतार तर्खाण और अन्य कारीगर ऐसे लगाये जावें की जो संधिस्थानोंको (परूंषि विद्वान् शस्ता) अच्छी प्रकार काटने और जोडनेकी कला जाननेवाले हों। बांस, लकडियां, घास, चटाइयां आदि जो भी सामान घरमें रखनेका अथवा घरपर लगानेका

हो वह सब उत्तम, निर्दोष और सुव्यवस्थासे रखा जावे।

गृहनिर्माण करनेकी विद्या जाननेवाले को 'मानपति' कहते हैं। यह घरका प्रमाण से नकशा तैयार करता है और उसी प्रमाणसे भूमीपर रचना करवाता है। इसके लिये प्रमाणोंसे प्रमाणयुक्त जो घर होता है वह सुखदायी होता है। 'मानपति' (इंजिनियर) को 'सूत्रधार' भी कहते हैं क्यों कि यह सूत्रसे सबका प्रमाण दिखाता है। इस 'मानपती' द्वारा बनाई होनेके कारण इस शालाको 'मान-पत्नी' कहते हैं, इसका शब्दार्थ "प्रमाण दर्शनेमें जो कुशल कारीगर हैं उसके प्रमाणसे इसकी पालना हुई है।" हरएक घरके विषयमें यह सत्य है।

घरमें छींकें टंगीं हों और उनपर घृतदुग्धादि पदार्थ रखे जांय। यहां ये पदार्थ रखनेसे चूंटीयों और चूहोंसे बचते हैं। और इस कारण आरोग्य देनेवाले होते हैं।

घर (उद्धिता) ऊंचे स्थानपर और ऊंचा हो। ठिगणा न हो, क्यों कि ऊंचे घरमें शुद्धवायु आती है जो मनुष्योंको नीरोग बना देती है। अतः कहा है कि-

उद्धिता शाला तन्वे शं भवति। (मं० ६)

'ऊंचा घर शरीरके लिये सुखकारक होता है।' वैसा ठिगणा नहीं होता। घरमें एक उपासना करनेका स्थान, संध्या हवन करनेका योग्य कमरा, एक भोजनशाला, एक स्त्रियोंके लिये स्थान, एक अतिथियों और घरवालोंके रहनेका स्थान, एक धान्यादिका संग्रह स्थान ऐसे अलग अलग कमरे हों। घरकी छतपर सुंदर कपडा ताना जावे, जिससे कमरेकी शोभा बढती है। घरमें रहनेवाले ऐसा कहें कि घरका निर्माण करनेवाला "मानपति" (इंजिनियर) और बनानेवाले कारीगर दीर्घ आयुतक जीवित रहें। घरमें रहनेवालोंको सुख हुआ तो हि वे ऐसा कहेंगे, अतः बनानेवाले लोग कुशलतापूर्वक गृह निर्माण का कार्य करें। और घरमें रहनेवालोंको सुख लगे, इस विचारसे घर बनावें। केवल वेतन के लिये बनाया जाय तो यह बात नहीं बनेगी। यह तो एक परस्पर प्रेमका विचार है। इसी विचारसे ग्रामके कारीगर और गृहके स्वामी इनमें परस्पर हितकी बुद्धी जाग्रत रहेगी।

वृक्ष काटनेवाले, विविध लकडियां बनानेवाले, अन्य गृहोपयोगी सामान संग्रहित करनेवाले, जोडनेवाले और घरमें रहनेवाले इन सब की सहकारितासे घर निर्माण होता है, अतः ग्राममें इनकी सहकारिता होनी चाहिये। और एकका हित

दूसरेको करना चाहिये। घरका स्वामी धनवान और प्रतिष्ठित क्यों न हो, परंतु जिस समय वह लकडी काटनेवालेको मिले, वह (तस्मै दात्रे नमः) उस लकडी काटनेवाले को नमस्कार करे. वह लकडी काटनेवाला निर्धन हि क्यों न हो, परंतु वह घरके मालिकसे मिले तो वह (शालापतये नमः) घरके स्वामीको नमस्कार करे। इस प्रकार ये लोग परस्पर सन्मान करें, एक दूसरेका आदर करें। कोई किसीका निरादर न करे।

यहांतक आदर दर्शाना चाहिये कि घरका स्वामी अपने घोडों, गौवों, बैल आदि पशुओंका भी उत्तम प्रकार आदर सत्कार करें। इस प्रकार जहां सबका सत्कार होता है ऐसे घरमें रहनेवाले मनुष्य उत्तम आनन्दका अनुभव करेंगे, इसमें संदेह हि क्या हो सकता है ?

घर ऐसा बनाया जावे कि जो पीछेके आकाशपर सुंदर दिखाई देवे। घरके आसपास की शोभा वृक्षादिकोंसे सुंदर दिखाई देवे। और प्रयत्नसे अधिक सौंदर्य बनाया जावे। घरके मध्यमें अत्यंत सुरक्षित स्थानमें धन, जेवर आदि रखनेका स्थान—खजानेका कमरा—बनाया जावे। (शेवधिभ्यः उदरं) जैसा मनुष्यके शरीर में पेट बीचमें होता है, अतिसुरक्षित स्थानपर होता है, उसी प्रकार यहां घरके मध्यमें खजानेका कमरा बनाया जावे। घरमें धान्यके स्थानमें सब प्रकार (ऊर्जः) धान्य, (विश्वान्नं) अन्नकी सामग्री संग्रहित की जावे, (पयः) जल, पेय पदार्थ, रसपानके साधन घरमें भरपूर हों। ऐसा घर सब रहनेवाले पारिवारिक जनोंको सुख देता है।

घरके स्तंभ ऐसे बलवान हों जैसे हाथिनीके पांव होते हैं, क्योंकि इन्हींपर घरका छप्पर आदि रहता है। दूसरा मजला करना हो तो एकके ऊपर दूसरा बनाया जावे, जैसे (कुलाये अधि कुलायं) घोसला एकपर दूसरा बनाते हैं और (कोशे कोशः) एक कोश पर दूसरा कोश रखा जाता है। नीचेका स्थान मजबूत हो, नहीं तो ऊपरके भारसे नीचला स्थान दब जायगा। ऐसे उत्तम घरमें मनुष्यका जन्म होवे। सभी प्राणियोंके लिये ऐसे स्थान बनाये जावें। पक्षीभी प्रसूतिके पूर्व उत्तम घोसले निर्माण करते हैं, पशुभी सुरक्षित स्थान देखते हैं, यह देखकर मनुष्योंको अपने घरोंमें प्रसूतिके लिये उत्तम स्थान बनाने चाहिये।

घरमें दो, चार, छः, आठ, दस कमरे अथवा चौक बनाये जा सकते हैं। अंदर रहनेवाले मनुष्योंकी संख्याके अनुसार तथा उस घरमें होनेवाले कार्योंके अनुसार घर छोटा या बडा होना चाहिये।

अग्निर्ह्यन्तरापश्चर्तस्य प्रथमा द्वाः। (मं० २२)

"घरमें अग्नि और जल अवश्य रहे, क्यों कि इन्हींसे सब प्रकारके यज्ञ होते हैं।" कोई अतिथि आगया तो उसको श्रमपरिहारके लिये कमसे कम जलपान दिया जावे, और शीतनिवारणके लिये आगके स्थान के पास उसको बिठलाया जावे। ये दो पदार्थ गरीबसे गरीब और धनीसे धनी मनुष्यके घरमें अवश्य रहें और इनसे आदरातिथ्य होता जावे। मनुस्मृतिमें भी कहा है कि-

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन। (मनु० ३।१०१)

"बैठनेके लिये चटाई, भूमि, जल और मीठा भाषण ये चार बातें अतिथिके आदरके लिये सज्जनोंके घरमें कभी न्यून नहीं होतीं।" यहां उदक है। वेदके ऊपरके मंत्रमें जल पीनेके लिये और आग सेकनेके लिये प्रत्येक घरमें अवश्य रहे ऐसा कहा है। अतिथिके समादरके ये प्रकार ध्यानसे देखने योग्य हैं। घरमें जल रखना हो तो उत्तम निर्दोष रखना चाहिये इस विषयमें सूचना यह है-

अयक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः आपः प्रभरामि।
गृहान् उपप्रसीदामि। (मं० २३)

" मैं घरमें ऐसा जल भरता हूं कि जो स्वयं रोग उत्पन्न करनेवाला न हो और जो रोगोंको दूर करनेवाला हो। इस रीतिसे मैं घरकी प्रसन्नता बढाता हूं।" हरएक गृहस्थी ऐसाही कहे और अपने घरकी अधिकसे अधिक प्रसन्नता करनेका यत्न करे। (वधूं इव) जैसी स्त्रीकी रक्षा करना चाहिये उसी प्रकार गृहकी भी रक्षा करना योग्य है। यहां वधूकी प्रसन्नता रखना, उसको हृष्टपुष्ट रखना, निर्दोष रखना, सुरक्षित रखना आदि बातें जानने योग्य हैं और इस दृष्टांतसे घरकी सुरक्षितता की बातेंभी जानी जाती हैं। शाला (घर) भी एक कुलवधु है ऐसा मानकर उसकी सुरक्षितता और शोभाके बढानेके लिये प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा करनेसेहि (गुरुः भारः लघुः) संसार का बडा भारी बोझ बहुत हलका हो जाता है।

जहां ऐसे ढंगसे कुलवधुके समान घरकी सुव्यवस्था की जाती है, वहां घरके चारों ओरकी दिशा और उपदिशाएं प्रसन्न होती हैं, और वहां देवताओंका निवास होनेयोग्य स्थान बनता है। और घरकी महिमा बढ जाती है।

हरएक गृहस्थी अपने घरकी महिमा इस प्रकार बढावे और अपना घर देवताओंके निवास करने योग्य करे और अपने सिर परका संसारका बोझ हलका करे।
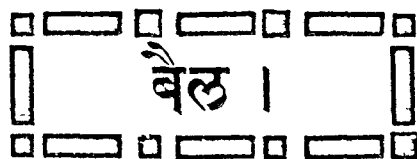
[४]

(ऋषिः— ब्रह्मा। देवता-ऋषभः)

साहस्रस्त्वेष ऋषभः पर्यस्वान् विश्वा रूपाणि वक्षणासु बिभ्रत्।
भद्रं दात्रे यजमानाय शिक्षन् बार्हस्पत्य उस्रियस्तन्तुमातान् ॥ १ ॥
अपां यो अग्रे प्रतिमा बभूव प्रभूः सर्वस्मै पृथिवीव देवी।
पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानां साहस्रे पोषे अपि नः कृणोतु ॥ २ ॥

अर्थ-(साहस्रः त्वेषः) हजारों शक्तियोंसे युक्त तेजस्वी, (पयस्वान् ऋषभः) दूधवाला बैल (वक्षणासु विश्वा रूपाणि बिभ्रत्) नदीतीरोंपर बहुत रूपोंको धारण करता हुआ (बार्हस्पत्यः उस्रियः) बृहस्पतिके संबंधका यह बैल (दात्रे यजमानाय भद्रं शिक्षन्) दान देनेवाले यजमानके लिये भलाईकी शिक्षा देता हुआ (तन्तुं आतान्) यज्ञके धागेको फैलाता है ॥ १ ॥

(यः अग्रे) जो पहिले (अपां प्रतिमा बभूव) जलोंके मेघकी उपमा हुआ करती है (देवी पृथ्वी इव) पृथिवी देवीके समान (सर्वस्मै प्रभूः) सब पर प्रभाव चलानेवाला, (वत्सानां पिता) बच्चोंका स्वामी (अघ्न्यानां पतिः) गौवोंका पति (नः) हमें (साहस्रे पोषे अपि कृणोतु) हजारों प्रकारकी पुष्टिमें करे, रखे ॥ २ ॥

भावार्थ— बैल हजारों शक्तियोंसे युक्त है। बैलहि दूधवाला है। नदियोंके तटाकोंपर इसके विविध रूप दीखते हैं। इसका दान करनेसे हित होता है और यज्ञका प्रचार होता है ॥ १ ॥

इसको जलदायी मेघोंकी उपमा दियी जाती है। पृथ्वी देवीपर यह अधिक प्रभाववाला है, यह बछडोंका पिता और गौवोंका पति है। इससे हमारी हजारों प्रकारकी पुष्टी होती है ॥ २ ॥

सोमेन पूर्णं कलशं बिभर्षि त्वष्टा रूपाणां जनिता पशूनाम् ।
शिवास्ते सन्तु प्रजन्व इह या इमा न्यस्मभ्यं स्वधिते यच्छ या अमूः ॥६॥
आज्यं बिभर्ति घृतमस्य रेतः साहस्रः पोषस्तमु यज्ञमाहुः ।
इन्द्रस्य रूपमृषभो वसानः सो अस्मान्देवाः शिव एतु दत्तः ॥ ७ ॥
इन्द्रस्यौजो वरुणस्य बाहू अश्विनोरंसौ मरुतामियं ककुत् ।
बृहस्पतिं संभृतमेतमाहुर्ये धीरासः कवयो ये मनीषिणः ॥ ८ ॥

अर्थ-(सोमेन पूर्णं कलशं बिभर्षि) सोमरससे परिपूर्ण कलशका तू धारण करता है। और तू (रूपाणां त्वष्टा) रूपोंका बनानेवाला और (पशूनां जनिता) पशुओंका उत्पादक है, (याः इमाः ते प्रजन्वः) जो ये तेरे सन्तान हैं वे (शिवाः सन्तु) हमारे लिये शुभ हों। हे (स्वधिते) शस्त्र ! (याः अमूः अस्मभ्यं नि यच्छ) जो वहां हैं वे हमारे लिये दे ॥ ६ ॥

(अस्य घृतं आज्यं) इसका घी और आज्य (रेतः बिभर्ति) वीर्यको धारण करता है। (साहस्रः पोषः) जो हजारोंका पोषक है (तं उ यज्ञं आहुः) उसको यज्ञ कहते हैं। (वृषभः इन्द्रस्य रूपं वसानः) बैल इन्द्रका रूप धारण करता हुआ, हे (देवाः) देवो ! (सः दत्तः अस्मान् शिवः आ एतु) वह दान दिया हुआ हमारे पास शुभ होकर प्राप्त होवे ॥ ७ ॥

(ये धीरासः) जो धैर्यवाले और (ये मनीषिणः कवयः) जो मननशील कवि हैं वे (एतं संभृतं बृहस्पतिं आहुः) इस संभारयुक्तको बृहस्पति कहते हैं तथा यह (इन्द्रस्य ओजः) इन्द्रकी शक्ति, (वरुणस्य बाहू) वरुणके बाहू, (अश्विनोः अंसौ) अश्विदेवोंके कन्धे, (मरुतां इयं ककुद्) मरुतोंकी यह कोहान है ऐसा कहते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ- सोमरससे भरा हुआ कलश यह धारण करता है, यह गौ आदिका उत्पन्न कर्ता, विविध रूपोंका बनानेवाला है. इसके सन्तान हमें कल्याणदायी हों, शस्त्र इनकी रक्षा करके हमें देवे ॥ ६ ॥

यह घी, और वीर्य धारण करता है, हजारों प्रकारकी पुष्टी देता है अतः इसको यज्ञ कहते हैं। यह इन्द्रका रूप धारण करके हमारे लिये शुभ होवे ॥ ७ ॥

जो धैर्ययुक्त कवि और ज्ञानी हैं वे इसको देवताओंकी शक्तियोंसे युक्त

दैवीर्विशः पयस्वाना तनोषि त्वामिन्द्रं त्वां सरस्वन्तमाहुः ।
सहस्रं स एकमुखा ददाति यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति ॥ ९ ॥
बृहस्पतिः सविता ते वयो दधौ त्वष्टुर्वायोः पर्यात्मा त आभृतः ।
अन्तरिक्षे मनसा त्वा जुहोमि बर्हिष्टे द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥१०॥ (९)
य इन्द्र इव देवेषु गोष्वेति विवावदत् ।
तस्य ऋषभस्याङ्गानि ब्रह्मा सं स्तौतु भद्रया ॥ ११ ॥

अर्थ- तू (पयस्वान् दैवीः विशः आ तनोषि) दूधवाला दिव्यगुणी प्रजाको उत्पन्न करता है । (त्वां इन्द्रं) तुझे इन्द्र और (त्वां सरस्वन्तं आहुः) सारवाला कहते हैं । (यः ब्राह्मणः) जो ब्राह्मण (ऋषभं आ जुहोति) बैलका दान करता है (सः एकमुखाः सहस्रं ददाति) वह एक स्थानपर सुख करता हुआ हजारोंका दान करता है ॥ ९ ॥

(बृहस्पतिः सविता) बृहस्पति और सविता (ते वयः दधौ) तेरी आयुका धारण करते हैं । (ते आत्मा) तेरा आत्मा (त्वष्टुः वायोः परि आभृतः) त्वष्टा और वायुसे परिपूर्ण है। (मनसा त्वा अन्तरिक्षे जुहोमि) मनसे तुझे अन्तरिक्षमें अर्पण करता हूं, (उभे द्यावापृथिवी ते बर्हिः स्ताम्) दोनों द्युलोक और भूलोक तेरे आसन हों ॥ १० ॥

(देवेषु इन्द्रः इव) देवोंमें जैसा इन्द्र वैसा (यः गोषु विवावदत् एति) गौओंमें शब्द करता हुआ चलता है । (तस्य ऋषभस्य अंगानि) उस बैलके अंगोंकी (भद्रया ब्रह्मा संस्तौतु) प्रशंसा शुभवाणीसे ब्रह्मा करे॥११॥

मानते हैं, इसमें बृहस्पति, इन्द्र, वरुण, अश्विनी, मरुत् इनकी शक्तियां हैं ॥ ८ ॥

यह दूध देनेवाला बैल उत्तम प्रजा उत्पन्न करता है, उसको सारवान् इन्द्र कहते हैं । जो बैलका समर्पण करता है उसको हजारों दानोंका श्रेय होता है ॥ ९ ॥

बृहस्पति और सविताने उसकी आयुका धारण किया है। त्वष्टा और वायुका सत्त्व इसमें है । इसका मनसे अन्तरिक्षमें समर्पण करनेसे भूमिपर और आकाशके नीचे यह रहता है ॥ १० ॥

जैसा देवोंमें इन्द्र वैसा यह बैल गौवोंमें है । ज्ञानीहि इसके अवयवोंके महत्त्व का कथन कर सकता है ॥ ११ ॥

पार्श्वे आस्तामनुमत्या भगस्यास्तामनूवृजौ ।
अष्ठीवन्तावब्रवीन्मित्रो ममैतौ केवलाविति ॥ १२ ॥
भसदासीदादित्यानां श्रोणी आस्तां बृहस्पतेः ।
पुच्छं वातस्य देवस्य तेन धूनोत्योषधीः ॥ १३ ॥
गुदा आसन्त्सिनीवाल्याः सूर्यायास्त्वचमब्रुवन् ।
उत्थातुरब्रुवन् पद ऋषभं यदकल्पयन् ॥ १४ ॥
क्रोड आसीज्जामिशंसस्य सोमस्य कलशो धृतः ।
देवाः संगत्य यत् सर्व ऋषभं व्यकल्पयन् ॥ १५ ॥

अर्थ-(पार्श्वे अनुमत्याः आस्तां) दोनों पासे अनुमतिके हैं,(अनूवृजौ भगस्य आस्तां) पसुलियोंके दोनों भाग भगके हैं, (मित्रः अब्रवीत्) मित्रने कहा कि (अष्ठीवन्तौ केवलौ एतौ मम इति) दो घुटने केवल मेरे हैं ॥ १२ ॥

(भसद् आदित्यानां आसीत्) पृष्ठवंशका अन्तिम भाग आदित्योंका है, (श्रोणी बृहस्पतेः आस्तां) कुल्हे बृहस्पतिके हैं, (पुच्छं वातस्य देवस्य) पुच्छ वायु देवका है, (तेन ओषधीः धूनोति) उससे औषधियोंको हिलाता है ॥ १३ ॥

(गुदाः सिनीवाल्याः आसन्) गुदाभाग सिनीवालीके हैं, (त्वचं सूर्यायाः अब्रुवन्) त्वचा सूर्यप्रभाकी है, ऐसा कहते हैं। (पदः उत्थातुः अब्रुवन्) पैर उत्थाताके हैं ऐसा कहा है, (यत् ऋषभं अकल्पयन्) इस प्रकार बैलकी कल्पना विद्वानोंने की है ॥ १४ ॥

(क्रोडः जामिशंसस्य आसीत्) गोद जामिशंसकी थी, (कलशः सोमस्य धृतः) कलश सोमका धारण किया है, इस प्रकार (सर्वे देवाः संगत्य) सब देव मिलकर (यत् ऋषभं व्यकल्पयन्) बैलकी कल्पना करते रहे ॥ १५ ॥

भावार्थ-इसके अवयवोंमें अनुमति, भग, मित्र, आदित्य, बृहस्पति, वायु आदि देवताओंका अधिष्ठान है ॥ १२-१३ ॥

सिनीवाली, सूर्यप्रभा, उत्थाता, जामिशंस, सोम इन देवताओं के लिये क्रमशः गुदा, त्वचा, पैर, गोद, कलश ये इसके अवयव माने गये हैं। इस तरह सब देवोंने इस बैलके विषयमें कल्पना की है ॥ १४-१५ ॥

ते कुष्ठिकाः सरमायै कूर्मेभ्यो अदधुः शफान् ।
ऊबध्यमस्य कीटेभ्यः श्ववर्तेभ्यो अधारयन् ॥ १६ ॥
शृङ्गाभ्यां रक्ष ऋषत्यवर्तिं हन्ति चक्षुषा ।
शृणोति भद्रं कर्णाभ्यां गवां यः पतिरघ्न्यः ॥ १७ ॥
शतयाजं स यजते नैनं दुन्वन्त्यग्नयः ।
जिन्वन्ति विश्वे तं देवा यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति ॥ १८ ॥

अर्थ-(कुष्ठिकाः सरमायै ते अदधुः) कुष्ठिकोंको सरमाके लिये वे धारण करते रहे। और (शफान् कूर्मेभ्यः) खुरोंको कछुओंके लिये धारण करते रहे। (अस्य ऊबध्यं) इसका अपक्क अन्न (श्ववर्तिभ्यः कीटेभ्यः अधारयन्) कुत्तेके साथ रहनेवाले कीडोंके लिये रख दिया ॥ १६ ॥

(यः अघ्न्यः गवां पतिः) जो गौवोंका हननके अयोग्य पति अर्थात बैल है, वह (कर्णाभ्यां भद्रं शृणोति) कानोंसे कल्याणकी बातें सुनता है, (शृंगाभ्यां रक्षः ऋषति) सींगोंसे राक्षसोंको हटा देता है और (चक्षुषा अवर्तिं हन्ति) आंखसे अकालको नष्ट करता है ॥ १७ ॥

(यः ब्राह्मणे ऋषभं आजुहोति) जो ब्राह्मणोंको बैल समर्पण करता है (तं विश्वे देवाः जिन्वन्ति) उसको सब देव तृप्त करते हैं। (सः शतयाजं यजति) वह सैंकडों याजकों द्वारा यज्ञ करता है और (एनं अग्नयः न दुन्वन्ति) इसको अग्नि कष्ट नहीं देते ॥ १८ ॥

भावार्थ-सरमा,कूर्म, श्ववर्ति, क्रिमी आदि के लिये इसके कुष्ठिका, खुर, और अपचित अन्नभाग रखे हैं ॥ १६ ॥

बैल गौका पति है। वह कानोंसे उत्तम शब्द सुनता है, सींगोंसे शत्रुओंको हटाता है और आंखसे अकालको दूर करता है ॥ १७ ॥

जो ब्राह्मणको बैल दान देता है, उसकी सब देव तृप्ति करते हैं। वह सैकडों प्रकारके याजकों द्वारा यज्ञ करता हुआ अग्निके भयसे दूर रहता है ॥ १८ ॥

ब्राह्मणेभ्य॑ ऋष॒भं द॒त्त्वा वरी॑यः कृणु॒ते मनः॑ ।
पुष्टिं॑ सो अ॒घ्न्याना॑ं स्वे गो॒ष्ठेऽव॑ पश्यते ॥ १९ ॥

गावः॑ सन्तु प्र॒जाः स॒न्त्वथो॑ अस्तु तनू॒बलम् ।
तत् सर्व॒मनु॑ मन्यन्तां दे॒वा ऋ॑षभदा॒यिने॑ ॥ २० ॥

अ॒यं पिपा॑न॒ इन्द्र॒ इद् र॒यिं द॑धातु चेत॒नीम् ।
अ॒यं धे॒नुं सु॒दुघा॑ं नित्य॑वत्सां॒ वशं॑ दुहां॑ विप॒श्चितं॑ प॒रो दि॒वः ॥ २१ ॥

अर्थ— (ब्राह्मणेभ्यः ऋषभं दत्त्वा) ब्राह्मणोंको बैल देकर जो अपना (मनः वरीयः कृणुते) मन श्रेष्ठ बनाता है। (सः स्वे गोष्ठे) वह अपनी गोशालामें (अघ्न्यानां पुष्टिं अव पश्यते) गौओंकी पुष्टी देखता है ॥ १९ ॥

(गावः सन्तु) गौवें हों, (प्रजाः सन्तु) प्रजाएं हों, (अथो तनूबलं अस्तु) और शारीरिक बल हो। (तत् सर्वं) यह सब (ऋषभदायिने) बैल देनेवालेके लिये (देवाः अनुमन्यन्तां) देव अपनी अनुमतिके साथ देवें ॥ २० ॥

(अयं पिपानः इन्द्रः इत) यह पुष्ट इन्द्र (चेतनीं रयिं दधातु) चेतना देनेवाले धनका धारण करे। तथा (अयं) यह इन्द्र (सुदुघां) उत्तम दोहने योग्य (नित्यवत्सां) बछडोंके साथ उपस्थित, (वशं दुहां) वशमें रहकर दुहने योग्य, (विपश्चितं धेनुं) ज्ञानयुक्त धेनुको (परः दिवः) श्रेष्ठ द्यु-लोकके परेसे धारण करे ॥ २१ ॥

भावार्थ— जो ब्राह्मणोंको बैल दान करके अपना मन श्रेष्ठ बनाता है, वह अपनी गोशालामें बहुत गौवें पुष्ट हुई हैं, इसका अनुभव करता है ॥ १९ ॥

बैलका दान करनेवालेको देवोंकी अनुमतिसे गौवें मिलतीं, प्रजा होती है और शरीरका बलभी प्राप्त होता है ॥ २० ॥

यह प्रभु चैतन्ययुक्त गोरूपी धन हमें देवे। यह द्युलोकके परेसे ऐसी गौ लावे कि जो उत्तम दूध देनेवाली, नित्य बछडेको साथ रखनेवाली, विनाकष्ट दूध देनेवाली और स्वामीको पहचाननेवाली हो ॥ २१ ॥

पिशङ्गरूपो नभसो वयोधा ऐन्द्रः शुष्मो विश्वरूपो न आगन् ।
आयुरस्मभ्यं दधत् प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचताम् ॥ २२ ॥
उपेहोपपर्चनास्मिन् गोष्ठ उप पृञ्च नः ।
उप ऋषभस्य यद् रेत उपेन्द्र तव वीर्यम् ॥ २३ ॥
एतं वो युवानं प्रति दध्मो अत्र तेन क्रीडन्तीश्चरत वशाँ अनु ।
मा नो हासिष्ट जनुषा सुभागा रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम् ॥ २४ ॥ (२४)

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ-(पिशंगरूपः) लाल रंगवाला, (नभसः) आकाशसे (ऐन्द्रः शुष्मः) इन्द्रके संबंधी बल धारण करनेवाला (विश्वरूपः वयोधाः नः आगन्) समस्त रूपोंसे युक्त अन्नका धारण करनेवाला हमारे पास आगया है। वह (आयुः प्रजां च रायः च) आयु, प्रजा और धन (अस्मभ्यं दधत्) हमारे लिये धारण करता हुआ (पोषैः नः अभिसचन्तां) पुष्टियोंसे हमें प्राप्त होवे ॥ २२ ॥

(इह अस्मिन् गोष्ठे) यहां इस गोशालामें (उप उप पर्चन) समीप रह। और (नः उपपृञ्च) हमें प्राप्त हो। (ऋषभस्य यत् रेतः) वृषभका जो वीर्य है, हे इन्द्र! (तव वीर्यं उप) वह तेरा वीर्य हमारे पास आजावे ॥ २३ ॥

(एतं युवानं वः प्रतिदध्मः) इस युवाको हम आपके लिये समर्पित करते हैं, (अत्र तेन क्रीडन्तीः चरत) यहां उसके साथ खेलती हुई विचरो और (वशान् अनु) इच्छित स्थानोंके प्रति जाओ। हे (सुभागाः) भाग्य युक्त गौवो! (जनुषा मा हासिष्ट) जन्मके साथ हमारा त्याग न करो, (च पोषैः रायः) पुष्टियोंके साथ रहनेवाले धन (नः अभिसचध्वं) हमें दो ॥ २४ ॥

भावार्थ- आकाशके पाससे बैल ऐसा आया है कि जो लाल रंगवाला, बलवान, अनेक रंगोंसे युक्त, अन्नको देनेवाला है। यह हमें आयु, प्रजा और धन हमारे लिये देवे और हमें पुष्टि देवे ॥ २२ ॥

यह बैल इस गोशालामें रहे, हमारे पास रहे। इस बैलका जो बल है वह इन्द्रकी शक्ति है, वह हमें प्राप्त हो ॥ २३ ॥

भावार्थ— इन गौवोंके पास हम इस बैलको धर देते हैं। इसके साथ ये गौवें खेलें, कूदें, और विचरें। जहां चाहे वहां घूमें। गौवें हमारा त्याग न करें, हमारे पास रहें। पुष्ट हों और हम सबको पुष्ट करें॥ २४॥

बैलकी महिमा।

इस सूक्तमें बैलकी महिमा वर्णन की है। उत्तमसे उत्तम बैलका घरमें पालन करनेसे कितने लाभ होते हैं इसका वर्णन इस सूक्तमें पाठक देखें—

साहस्रस्त्वेषः ऋषभः पयस्वान्। (मं० १)

"हजारों तेजोंसे और बलोंसे युक्त यह बैल है, और यह (पयस्वान्) दूध देनेवाला है।" पाठक यहां आश्चर्य करेंगे कि बैल दूध देनेवाला किस प्रकार हो सकता है? प्रथम और तृतीय मंत्रमें इस बैलको (पयस्वान्) दूधवाला कहा है। अतः इस वर्णनमें कुछ हेतु है। जैसा बैल होता वैसा उसकी गौरूप संततिमें दूध न्यूनाधिक होता है। अर्थात् गौमें दूध उत्पन्न करनेकी शक्ति बैलपर निर्भर है। कई जातिके बैल कम दूध देनेवाली संतान पैदा करते हैं और कई जातीके बैल विशेष दूध देनेवाली संतान उत्पन्न करते हैं। अतः यदि अधिक दूध देनेवाली गौवें उत्पन्न करानेकी इच्छा हो, तो अधिक दूध देनेवाली गौओंके साथ उस जातिका बैल रखना चाहिये कि जो अधिक दूध देनेवाली जातीका हो। ऐसी गौवें और ऐसे बैल एक स्थानपर रखने चाहिये। अर्थात् कम दूध देनेवाली जातीके बैल अधिक दूध देनेवाली गौके साथ कदापि नहीं रखना चाहिये क्यों कि इससे उत्पन्न होनेवाली गौका दूध घट जायगा। अतः २४ वे मंत्रमें कहा है—

एतं वो युवानं प्रतिदध्मः तेन क्रीडन्तीश्चरत वशाँ अनु॥ (मं० २४)

"इस युवा बैलको गौवोंके साथ रखते हैं, इसके साथ ये हि गौवें खेलें और इष्ट प्रदेशमें विचरें।" अर्थात् यह फलानी जातिका बैल है और ये फलानी जातीकी गौवें हैं, इन दोनोंका संबंध हम करना चाहते हैं। इस संबंधसे विशेष प्रकारकी संतान पैदा होगी। इस प्रकार गौओंमें भी किसी गौका किसी बैलके साथ संबंध होना इष्ट नहीं है। विशेष जातीकी गौके साथ विशेष जातीके बैलका ही संबंध होना अभीष्ट है। गौवोंमें जातीका संकर कदापि होने देना युक्त नहीं है। यदि भिन्न जातिमें संबंध होना है तो उच्च जातीवाले नर के साथ संबंध हो। और कदापि नीच जातीवाले नर के साथ संबंध न हो। यदि दूध बढाने की इच्छा हो तो अधिक दूध देनेवाली जातीके

बैलके साथ गौका संबंध हो, यदि वाहक शक्तिवाले बैल उत्पन्न करनेकी इच्छा हो तो उत्तम वाहक शक्तिवाले बैलके साथ संबंध हो। गौओंके अंदरकी उपजातियोंकी भी रक्षा करना योग्य है और संतान विशेष जातीकी हि उत्पन्न करनेका यत्न होना चाहिये। जातिसंकर होनेसे गुणोंकी न्यूनता होती है और जातिकी शुद्धता रहनेसे गुणोंका संवर्धन होजाता है। इस सूक्तमें इस तरह गौओंकी जातियोंकी रक्षा करके अथवा अनुलोम संबंधसे उच्च नरके साथ संबंध रखके गऊओंका संवर्धन करनेका उपदेश है। और यह उपदेश देनेके लिये बैलके रेतमें दूध बढानेका गुण है यह बात कही है। इसका विचार पाठक करें। अस्तु यह बैल—

वक्षणासु विश्वा रूपाणि बिभ्रत्। (मं० १)

"नदीके किनारोंपर यह बैल अपने विविध रूपोंको धारण करता है।" अर्थात् यह नदीके किनारेपर रहकर घास आदि खाकर यथेष्ट पुष्ट होकर विचरता है और गौवोंमें विविध प्रकारके अपने रूपोंका आधान करता है। यदि यह खा पी कर पुष्ट न बने, तो उत्तम संतान निर्माण करनेमें असमर्थ होगा। इसलिये सांडको बडा पुष्ट बनाना चाहिये। इस प्रकारका—

उस्रियः तन्तुं आतान्। (मं० १)

"अपने प्रजातन्तु को फैलाता है।" अर्थात् गौवोंमें गर्भाधान करके उत्तम संतान उत्पन्न करता है। यही रीति है कि जिससे गौवें और बैल उत्तम निर्माण हो सकते हैं। ऐसे उत्तम जातीके बैल-

दात्रे भद्रं शिक्षन्। (मं० १)

"दाता के लिये कल्याण देते हैं।" जो मनुष्य ऐसे उत्तम बैल आचार्यों को दान देता है उसका कल्याण होता है। अर्थात् आचार्य, ब्राह्मण आदिके पास बहुत शिष्य होते हैं, अतः उनके आश्रमोंमें अधिक दूध देनेवाली गौवें रहीं, तो वहांके ब्रह्मचारी दूध पीकर पुष्ट रह सकते हैं। अतः ऐसे उत्तम बैल और उत्तम गौवें ऐसे आचार्योंको देना कल्याणप्रद है। इस सूक्तमें इस प्रकारके दान के लिये प्रेरणा इस तरह की है-

सहस्रं स एकमुखा ददाति यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति। (मं० ९)
जिन्वन्ति विश्वे तं देवा यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति॥ (मं० १८)
ब्राह्मणेभ्य ऋषभं दत्त्वा वरीयः कृणुते मनः॥ (मं० १९)
तत्सर्वमनुमन्यन्तां देवा ऋषभदायिने॥ (मं० २०)

जो (ब्राह्मणे) ब्राह्मण को बैल समर्पण करता है वह एक रूप में हजारों दान करता है ॥ उसको सब देव संतुष्ट करते हैं जो (ब्राह्मणे) ब्राह्मणके घरमें बैलका समर्पण करता है ॥ ब्राह्मणोंको बैल दान देकर मन श्रेष्ठ बनाता है ॥ जो बैलका दान करता है उसके लिये सब देव अनुकूल होते हैं ॥ ”

विद्वान, ज्ञानी, सदाचारी आचार्यजीको उत्तम बैल दान करनेकी प्रेरणा इस प्रकार इस सूक्तमें की है। इसका तात्पर्य पूर्व स्थानमें जैसा बताया है वैसाहि समझना चाहिये। यही विषय महाभारतमें निम्नलिखित रीतिसे स्पष्ट किया है–

दत्त्वा धेनुं सुव्रतां कांस्यदोहां कल्याणवत्सामपलायिनीं च।
यावन्ति रोमाणि भवन्ति तस्यास्तावद्वर्षाण्यश्नुते स्वर्गलोकम्॥ ३३॥
तथाऽनड्वाहं ब्राह्मणेभ्यः प्रदाय दान्तं धुर्यं बलवन्तं युवानम्।
कुलानुजीव्यं वीर्यवन्तं बृहन्तं भुङ्क्ते लोकान्सम्मितान्धेनुदस्य॥ ३४॥
गोषु क्षान्तं गोशरण्यं कृतज्ञं वृत्तिग्लानं तादृशं पात्रमाहुः।
वृद्धे ग्लाने संभ्रमे वा महार्हे कृष्यर्थं वा होम्यहेतोः प्रसूत्याम्॥ ३५॥
गुर्वर्थं वा बालपुष्ट्याभिषङ्गां गां वै दातुं देशकालोऽविशिष्टः।

म० भा० अनुशा० अ० ७१

“ दान करनेके लिये गौ ऐसी हो कि जो उत्तम स्वभाववाली, बडे कांस्य के बर्तनमें जिसका दोहन होता हो, जिसके बछडे उत्तम होते हैं, जो न भागती हो। इसी प्रकार ब्राह्मणोंको दान करनेके लिये योग्य बैल बोझा ढोनेवाला, उत्तम बलवान, युवा, वीर्यवान्, बडे शरीरवाला हो। ऐसे बैलका दान करनेवालेको स्वर्गलाभ होता है। गौ ऐसे विद्वान् को देनी चाहिये कि जो गौका भक्त हो, गोपालक हो, गौके विषयमें कृतज्ञ हो, वृत्तिहीन हो। गुरुजी को शिष्य उत्तम गौ दान देवे। ” इस रीतिसे महाभारतमें गौ दान और वृषभ दान का विषय कहा है। हरएक ब्राह्मण गौ का दान लेनेका अधिकारी नहीं है। इस विषयमें महाभारत और अथर्ववेदके सूक्तोंमें बहुत नियम हैं, उनका विचार पाठक अवश्य करें–

असद्वृत्ताय पापाय लुब्धायानृतवादिने।
हव्यकव्यव्यपेताय न देया गौः कथंचन॥ १५॥
भिक्षवे बहुपुत्राय श्रोत्रियायाहिताग्नये।
दत्त्वा दशगवां दाता लोकानाप्नोत्यनुत्तमान्॥ १६॥

म० भा० अनुशा० अ० ६९

क्योंकि जो दूधका बढानेवाला है वही वीर्यका बढानेवाला होता है। गौके दूधको वैद्यक ग्रंथोंमें (सकृत् शुक्रकरं स्वादु) शीघ्र वीर्य बढानेवाला कहा है। हजारों अन्य उपायोंसे जो शरीरका पोषण होता है वह इस अकेले गौके दूधसे हो सकता है। यह सामर्थ्य गायके दूधमें है। गौका और बैलका इतना महत्त्व होनेसे इसका काव्यमय वर्णन इस सूक्तमें आगे किया है। इसके हरएक अवयवमें देवताका अंश है यह बात मं० ८ से मं० १६ तक कही है। प्रत्येक अवयवमें किस देवताका अंश है यह वर्णन देखनेसे गौका और बैलका शरीर देवतामय है, यह बात स्पष्ट हो जाती है। मानो गौका दूध देवताओंका सत्त्व है। यहां पाठक विचार करें कि वेदने गौके दूधका जो इतना माहात्म्य वर्णन किया है वह इस लिये कि वैदिक धर्मी लोग गायका ही दूध पीयें और गायकाही घी आदि सेवन करें। भैंस का दूध कभी न पीयें।

१७ वें मंत्रमें कहा है कि यह बैल सींगोंसे राक्षसोंका नाश करता है और आंखसे अकालका नाश करता है। यद्यपि यह आलंकारिक वर्णन है, तथापि यह सत्य है। बैलके मानव जातीपर इतने अनंत उपकार हैं कि उनका यथार्थ वर्णन करना असंभव है। राक्षस नाशक बैलका वर्णन शतपथ ब्राह्मणमें इस प्रकार आता है—

मनोर्ह वा ऋषभ आस। तस्मिन्नसुरघ्नी सपत्नघ्नी वाक्प्रविष्टास। तस्य ह श्वसथाद्रवथादसुररक्षसानि मृद्यमानानि यन्ति। ते हासुराः समूदिरे पापं बत नोऽयमृषभः सचते कथं न्विमं दभ्नुयामेति०॥ श० ब्रा० १

" मनुका एक बैल था, उसमें असुरों और सपत्नोंकी नाशक वाणी प्रविष्ट हुई थी, अतः उसके श्वाससे असुर और राक्षस मर्दित होते हुए नष्ट हो जाते थे। वे असुर मिलकर विचार करने लगे कि, ' यह बैल बडा पापी है, इसका कैसा नाश करें।" इत्यादि। यह सब वर्णन आलंकारिक है। इससे यहां इतनाही लेना है कि बैलमें असुरनाशक शक्ति है।

१८ वें मंत्रमें ब्राह्मणको बैल दान करनेका महत्त्व पुनः कहा है। यह एक दान सेंकडों दानोंके समान है यह कथन भी विशेष मननीय है। आगेके तीन मंत्रोंमें बैलके दानका महत्त्व वर्णन किया है, इस विषयमें इससे पूर्व बहुत लिखा गया है। इसी प्रकार अन्तिम तीन मंत्रोंमें बैलकी ऐन्द्री शक्तिका वर्णन है, ऐसे बैल गौवोंके साथ रखनेका उपदेश अन्तिम मंत्रमें किया है। ये सब विचार गौ और बैल का महत्त्व वर्णन कर रहे हैं। पाठक इन सब उपदेशोंका महत्त्व जान कर, गौ और बैलका अपने घरमें स्वागत करें और उनसे विशेष लाभ उठावें।

पञ्चौदन अज।

[५]

(ऋषिः- भृगुः । देवता-पञ्चौदनोऽजः)

[१] आ नयैतमा रभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन् ।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमा क्रमतां तृतीयम् ॥ १ ॥
इन्द्राय भागं परि त्वा नयाम्यस्मिन् यज्ञे यजमानाय सूरिम् ।
ये नो द्विषन्त्यनु तान् रभस्वानागसो यजमानस्य वीराः ॥ २ ॥

अर्थ— (एतं आनय) इस को यहां ला और ऐसे (आरभस्व) कर्मों का प्रारंभ कर कि जिससे यह (प्रजानन्) मार्गको जानता हुआ (सुकृतां लोकं अपि गच्छतु) सत्कर्म करनेवालोंके स्थानको प्राप्त होवे। मार्गमें (महान्ति तमांसि बहुधा तीर्त्वा) बडे अंधकारोंको बहुत प्रकारसे तरके यह (अजः तृतीयं नाकं आक्रमतां) अजन्मा तीसरे स्वर्गधाम को प्राप्त होवे ॥ १ ॥

(अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञमें स्थित (इन्द्राय यजमानाय भागं सूरिं त्वा) इन्द्र और यजमानके लिये भागभूत बने तुझ ज्ञानीको (परि नयामि) सब ओर लेजाता हूं। (ये नः द्विषन्ति) जो हमारा द्वेष करते हैं (तान् अनु-रभस्व) उनको नाश करना आरंभ कर। और यजमानस्य वीराः अना-गसः) यजमानके पुत्र अथवा वीर पापरहित हों ॥ २ ॥

भावार्थ— इसको यहां ले आओ, शुभ कर्मोंका प्रारंभ करो, अपनी उन्नतिके मार्गको जान लो, और सत्कर्म करनेवाले जहां जाते हैं उस स्थानको प्राप्त करो। मार्गमें बडे अन्धकारके स्थान लगेंगे, उनको लांघना चाहिये, इस प्रकार यह अजन्मा आत्मा परम उच्च अवस्थाको प्राप्त होता है ॥ १ ॥

इस यज्ञमें तुझे सब ओर लेजाता हूं। तू ज्ञानी बनकर प्रभुके लिये आत्मसमर्पण कर और यज्ञकर्ताके साथ समभागी बन। जो द्वेष करेंगे उनको दूर कर। इस तरह यज्ञकर्ताके कार्यभागी निष्पाप बनें और कार्य करें ॥ २ ॥

प्र प॒दोऽव॑ नेनिग्धि॒ दुश्च॑रितं॒ यच्च॒चार॑ शु॒द्धैः श॒फैरा क्र॑मतां प्रजा॒नन् ।
ती॒र्त्वा तमां॑सि बहु॒धा वि॒पश्य॑न्न॒जो नाक॒मा क्र॑मतां तृ॒तीय॑म् ॥ ३ ॥
अनु॑ च्छ्य श्या॒मेन॒ त्वच॑मे॒तां वि॑शस्त॒र्य॑थाप॒र्व॑१॒सिना॒ माभि मं॑स्थाः ।
माभि द्रु॑हः परु॒शः क॑ल्पयैनं तृ॒तीये॒ नाके॒ अधि॒ वि श्र॑यैनम् ॥ ४ ॥
ऋ॒चा कु॒म्भीमध्य॒ग्नौ श्र॑या॒म्या सि॒ञ्चोद॒कमव॑ धेह्येनम् ।

अर्थ- (यत् दुःचरितं चचार) जो दुराचार इसने किया होगा, वह सब (पदः प्र अव नेनिग्धि) इसके पांवसे धो डाल। इसके पश्चात् यह (शुद्धैः शफैः प्रजानन् आक्रमतां) शुद्ध पांवोंसे मार्गको जानता हुआ चले। (विपश्यन् तमांसि बहुधा तीर्त्वा) देखता हुआ अंधकारोंको बहुत प्रकार से तरके, (अजः) यह अजन्मा (तृतीयं नाकं आक्रमतां) तृतीय स्वर्ग धामको प्राप्त करे ॥ ३ ॥

हे (विशस्तः) विशेष शासक ! तू (एतां त्वचं यथा परु) इस त्वचा को जोडोंके अनुसार (श्यामेन असिना अनुछ्य) काले शस्त्रसे काट डाल। (मा अभि मंस्थाः) मत् अभिमान कर, (मा अभि द्रुहः) मत् द्रोह कर। (परुशः एनं कल्पय) जोडोंके अनुसार इसको समर्थ बना। और (तृतीये नाके एनं अधि विश्रय) तीसरे स्वर्गधाममें इसको स्थापित कर ॥४॥

(ऋचा कुंभीं अग्नौ अधिश्रयामि) मंत्र से इस पात्रको मैं अग्निपर रखता हूँ। उसमें तू (उदकं आ सिञ्च) जल डाल और (एनं अव धेहि) इसको वहीं स्थापित कर। हे (शमितारः) शान्त करनेवालो ! तुम (अग्निना पर्याधत्त) अग्नि द्वारा चारों ओरसे इसकी धारणा करो। यह

भावार्थ-पूर्व समयमें जो दुराचार हुआ होगा, उसको धो डाल, आगे शुद्ध पांवोंसे अपना मार्ग आक्रमण कर। चारों ओर मार्गको देख, सब अंधकारोंको लांघ कर, जन्ममरणको दूर करके परम उच्च अवस्थाको प्राप्त हो ॥३॥

योग्य शासक किंवा छेदक जोडोंके अनुसार तीक्ष्ण शस्त्रसे शस्त्रप्रयोग करे और रोगादि दोषोंको दूर करे। अभिमान न धरे और किसीका द्रोह भी न करे। प्रत्येक अवयवमें सामर्थ्य उत्पन्न करे और परम उच्च स्थानको प्राप्त करे ॥ ४ ॥

पकानेका बर्तन अग्निपर रखा जाय, उसमें पानी डाला जाय, चारों

पर्याधत्ताग्निना शमितारः शृतो गच्छतु सुकृतां यत्र लोकः ॥ ५ ॥
उत्क्रामातः परि चेदतप्तस्तप्ताच्चरोरधि नाकं तृतीयम् ।
अग्नेरग्निरधि सं बभूविथ ज्योतिष्मन्तमभि लोकं जयैतम् ॥ ६ ॥
अजो अग्निरजमु ज्योतिराहुरज जीवता ब्रह्मणे देयमाहुः ।
अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिँल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः ॥ ७ ॥

(शृतः गच्छतु) परिपक्व होकर वहां जावे कि (यत्र सुकृतां लोकः) जहां सत्कर्म करनेवालों का स्थान है ॥ ५ ॥

(अतः तप्तात् चरोः) इस तपे हुए बर्तनसे (अतप्तः) न संतप्त होता हुआ तू (परि उत् क्राम) ऊपर चढ और (तृतीयं नाकं अधि) तीसरे स्वर्गधामको प्राप्त हो। (अग्नेः अधि) अग्निके ऊपर (अग्निः सं बभूविथ) अग्नि प्रकट होता है, अतः (एतं ज्योतिष्मन्तं लोकं अभिजय) इस तेजस्वी लोक का जय कर ॥ ६ ॥

(अजः अग्निः) अजन्मा अग्नि है (अजं उ ज्योतिः आहुः) न जन्मनेवाला तेज है ऐसा कहते हैं। (जीवता अजं ब्रह्मणे देयं आहुः) जीते हुए मनुष्य के द्वारा अपना अजन्मा आत्मा परब्रह्मके लिये समर्पण करने योग्य है ऐसा कहते हैं। (अस्मिन् लोके श्रद्दधानेन दत्तः) इस लोकमें श्रद्धा धारण करनेवालेने समर्पित किया हुआ (अजः तमांसि दूरं अप हन्ति) अजन्मा आत्मा अन्धकारोंको दूर भगाता है ॥ ७ ॥

ओरसे अच्छी प्रकार सेक दिया जावे, पकनेके पश्चात् जहां सुकृत करनेवाले बैठे हों वहां लेजाकर उनको दिया जावे ॥ ५ ॥

तपे बर्तनसे ऐसा बाहेर निकलो कि जैसा न तपा हुआ होता है। और परम उच्च अवस्थाको प्राप्त हो। अग्निपर अग्नि अर्थात् आत्मापर परमात्मा विराजमान है। इस तेजोमय लोकको अपने शुभ कर्मसे प्राप्त करो ॥ ६ ॥

अजन्मा आत्मा भी अग्नि कहलाता है, अजन्मा परमात्मा भी तेजोमय है ऐसा ज्ञानी कहते हैं। जीवित देहधारी लोगोंके अन्दर जो अजन्मा जीवात्मा है वह परमात्मा अथवा परब्रह्मके लिये समर्पित होने योग्य है ऐसा ज्ञानी कहते हैं। इस लोकमें श्रद्धासे यदि इसका समर्पण किया जाय, तो वह अजन्मा आत्मा सब अन्धकारोंको दूर कर सकता है ॥ ७ ॥

पञ्चौदनः पञ्चधा वि क्रमतामाक्रंस्यमानस्त्रीणि ज्योतींषि ।
ईजानानां सुकृतां प्रेहि मध्यं तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व ॥ ८ ॥
अजा रोह सुकृतां यत्र लोकः शरभो न चत्तोति दुर्गाण्येषः ।
पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानः स दातारं तृप्त्या तर्पयाति ॥ ९ ॥
अजस्त्रिनाके त्रिदिवे त्रिपृष्ठे नाकस्य पृष्ठे ददिवांसं दधाति ।

अर्थ-(त्रीणि ज्योतींषि आक्रंस्यमानः) तीनों तेजोंपर आक्रमण करनेवाला (पञ्चौदनः) पांच भोजनोंवाला अजन्मा (पञ्चधा विक्रमतां) पांच प्रकारसे पराक्रम करे। (ईजानानां सुकृतां मध्यं प्रेहि) यज्ञकर्ता सत्कर्म करनेवालोंके मध्यमें प्राप्त हो। (तृतीये नाके अधिविश्रयस्व) तृतीय स्वर्गधाममें प्राप्त हो ॥ ८ ॥

(अज ! आरोह) हे अजन्मा ! ऊपर चढ (यत्र सुकृतां लोकः) जहां शुभ कर्म करनेवालोंका स्थान है। (चत्तः शरभः न) छिपे हुए व्याघ्र के समान (दुर्गाणि अति एषः) संकटोंके परे जा। (पञ्चौदनः ब्रह्मणे दीयमानः) पांचोंका भोजन करनेवाला आत्मा परब्रह्म के लिये समर्पित होता हुआ (सः) वह (दातारं तृप्त्या तर्पयाति) दाताको तृप्तिसे संतुष्ट करता है ॥ ९ ॥

(अजः) अजन्मा आत्मा (ददिवांसं) आत्मसमर्पण करनेवालेको (त्रिनाके त्रिदिवे त्रिपृष्ठे) तीनों सुखोंको देनेवाले, तीनों प्रकाशोंसे युक्त, तीन पीठों आधारोंसे युक्त (नाकस्य पृष्ठे) स्वर्गधामके स्थानपर (दधाति)

भावार्थ— तीन तेजोंको प्राप्त करनेवाला यह आत्मा पांच भोग प्राप्त करनेवाला है। यह पांच कार्यक्षेत्रोंमें पराक्रम करे। यज्ञ करनेवाले शुभकर्म करनेवालोंके मध्यमें प्रमुख स्थान प्राप्त करे और परम उच्च अवस्थामें विराजमान होवे ॥ ८ ॥

हे जन्मरहित जीवात्मन् ! उच्च मार्गसे चल, और सत्कर्म करनेवाले लोग जहां पहुंचते हैं वहां प्राप्त हो। जिस प्रकार छिपा हुआ व्याघ्र होता है, वैसा तू सुरक्षित होकर सब कष्टोंके परे जा। पांच भोजनोंका भोग लेनेवाला जीवात्मा परमात्माके लिये समर्पित होकर समर्पण करनेवालेको संतुष्ट करता है ॥ ९ ॥

पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघास्येका ॥ १० ॥ (११)
एतद् वो ज्योतिः पितरस्तृतीयं पञ्चौदनं ब्रह्मणेजं ददाति ।
अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिँल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः ॥ ११ ॥
ईजानानां सुकृतां लोकमीप्सन् पञ्चौदनं ब्रह्मणेजं ददाति ।
स व्याप्तिमभि लोकं जयैतं शिवोऽस्मभ्यं प्रतिगृहीतो अस्तु ॥ १२ ॥

धारण करता है। (पञ्चौदनः ब्रह्मणे दीयमानः) पांच भोजनोंवाला जो परब्रह्मको समर्पित होता है ऐसा तू स्वयं (एका विश्वरूपा धेनुः आसि) एक विश्वरूप कामधेनुके समान होता है ॥ १० ॥

हे (पितरः) पितरो ! (वः एतत् तृतीयं ज्योतिः) आपके लिये यह तीसरा तेज है, जो (पञ्चौदनं अजं ब्रह्मणे ददाति) पञ्च भोजन करनेवाले अजन्मा आत्मा का परब्रह्मके लिये समर्पण करना है। (श्रद्दधानेन दत्तः अजः) श्रद्धालुद्वारा समर्पित हुआ अजन्मा आत्मा (अस्मिन् लोके तमांसि दूरं अपहन्ति) इस लोकमें सब अन्धकारोंको दूर करता है ॥११॥

(ईजानानां सुकृतां लोकं ईप्सन्) यज्ञकर्ता शुभकर्म करनेवालोंके लोक की प्राप्ति की इच्छा करनेवाला जो (पञ्चौदनं अजं ब्रह्मणे ददाति) पञ्च भोजन करनेवाले अजन्मा आत्माको परब्रह्मके लिये समर्पित करता है। (सः व्याप्तिं एतं लोकं जय) वह तू व्याप्तिवाले इस लोकको जीत लो (यह प्रतिगृहीतः अस्मभ्यं शिवः अस्तु) स्वीकृत हुआ हमारे लिये कल्याणकारी होवे ॥ १२ ॥

भावार्थ— अजन्मा आत्मा आत्मसमर्पण करनेवालेको सब प्रकार के उच्च सुखपूर्ण स्थानके लिये योग्य बनाता है। पांच भोजनोंका भोक्ता जीवात्मा परमात्माके लिये समर्पित होनेपर वह एक कामधेनु जैसा बनता है ॥ १० ॥

जो पांच अन्नोंका भोक्ता जीवात्माका परमात्माको समर्पित करना है वह मानो, सब पितरोंके लिये तृतीय ज्योति देनेके समान है। यह समर्पण यदि श्रद्धासे किया तो वह सब अज्ञानान्धकारको दूर करता है ॥११॥

जिस लोक को यज्ञ करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष प्राप्त करते हैं, वहां पञ्च-भोजनी जीवात्माका परमात्माके लिये समर्पण करनेवाला जाता है।

अजो ह्यं१ग्नेरजनिष्ट शोकाद् विप्रो विप्रस्य सहसो विपश्चित् ।
इष्टं पूर्तमभिपूर्तं वषट्कृतं तद् देवा ऋतुशः कल्पयन्तु ॥ १३ ॥
अमोतं वासो दद्याद्धिरण्यमपि दक्षिणाम् ।
तथा लोकान्त्समाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवाः ॥ १४ ॥
एतास्त्वाजोप यन्तु धाराः सोम्या देवीर्घृतपृष्ठा मधुश्चुतः ।
स्तभान पृथिवीमुत द्यां नाकस्य पृष्ठेऽधि सप्तरश्मौ ॥ १५ ॥

अर्थ- (अजः अग्नेः शोकात् हि अजनिष्ट) अजन्मा आत्मा अग्निरूप तेजस्वी परमात्माके तेजसे प्रकट हुआ है। (विप्रस्य सहसः) विशेष ज्ञानी परमात्माकी शक्तिसे (विपश्चित् विप्रः) यह ज्ञानी चेतन प्रकट हुआ है। (इष्टं पूर्तं) इष्ट और पूर्त (अभिपूर्तं वषट्कृतं तत्) संपूर्ण यज्ञके द्वारा समर्पित उसको (देवाः ऋतुशः तत् कल्पयन्तु) देव ऋतुके अनुकूल समर्थ बनाते हैं ॥ १३ ॥

(अमोतं हिरण्ययं वासः) साथ बैठकर बुना हुआ सुवर्णमय वस्त्र और (दक्षिणां अपि दद्यात्) दक्षिणा भी दी जावे। (तथा लोकान् समाप्नोति) इससे वे लोक वह प्राप्त करता है, (ये दिव्याः ये च पार्थिवाः) जो द्युलोकमें और जो इस पृथ्वीपर हैं ॥ १४ ॥

हे (अज) अजन्मा आत्मन्! (एताः सोम्याः देवीः) ये सोम संबंधी दिव्य (घृतपृष्ठाः मधुश्चुतः) घी और शहदसे युक्त (धाराः त्वा उपयन्तु) रसधाराएं तेरे पास पहुंचें। और तू (सप्तरश्मौ अधि) सात किरणोंवाले सूर्यके ऊपर (नाकस्य पृष्ठे द्यां) स्वर्गके पृष्ठभागपर द्युलोकको (उत पृथिवीं तस्तभान) और पृथ्वीको स्थिर कर ॥ १५ ॥

अतः तू इस व्यापक लोक को प्राप्त हो। यह लोक प्राप्त होनेपर सबके लिये कल्याणकारी होवे ॥ १२ ॥

परमात्माके तेजसे अजन्मा जीवात्मा प्रकट होता है। महान् ज्ञानी परमात्माकी महिमासे यह चेतन जीवात्मा प्रकट होता है। इसके सब प्रकारके ऋतुओंके अनुकूल सब कर्म सब देव मिलकर पूर्ण करते हैं ॥१३॥

स्वयं बैठकर बुना हुआ वस्त्र सुवर्ण दक्षिणाके साथ दान करना उचित है। इस दानसे भौतिक और अभौतिक लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ १४ ॥

अजो॒ऽस्यज॑ स्व॒र्गो॑ऽसि॒ त्वया॑ लो॒कमङ्गि॑रसः॒ प्राजा॑नन् । तं लो॒कं पुण्यं॒ प्र ज्ञे॑षम् ॥१६॥
येना॑ स॒हस्रं॒ वह॑सि॒ येना॑ग्ने सर्ववेद॒सम् । तेने॒मं य॒ज्ञं नो॑ वह॒ स्व॑र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे ॥ १७ ॥
अ॒जः प॒क्वः स्व॒र्गे लो॒के द॑धाति॒ पञ्चौ॑दनो॒ निर्ऋ॑तिं॒ बाध॑मानः ।
तेन॑ लो॒कान्त्सूर्य॑वतो जयेम ॥ १८ ॥

अर्थ-हे (अज) अजन्मा ! तू (अजः असि) जन्मरहित है, तू (स्वर्गः असि) सुखमय है, (त्वया अंगिरसः लोकं प्रजानन्) तू तैजस् लोकको जानने वाला है । (तं पुण्यं लोकं प्र ज्ञेषं) उस पुण्यकारक लोकको मैं जानना चाहता हूं ॥ १६ ॥

हे अग्ने ! (येन सहस्रं वहासि) जिससे तू सहस्रोंको ले जाता है और (येन सर्ववेदसं) जिससे सब ज्ञान तू पहुंचाता है, (तेन) उससे (नः इमं यज्ञं) हमारे इस यज्ञको (देवेषुः स्वः गन्तवे) देवोंके अन्दर विद्यमान तेजको प्राप्त करनेके लिये (वह) ले चल ॥ १७ ॥

(पञ्चौदनः पक्वः अजः) पञ्च भोजनवाला परिपक्व हुआ अजन्मा आत्मा (निर्ऋतिं बाधमानः) दुरवस्थाका नाश करता हुआ (स्वर्गे लोके) स्वर्ग लोकमें (दधाति) धारण करता है । (तेन) उससे (सूर्यवतः लोकान् जयेम) सूर्यवाले लोकोंको जीतकर प्राप्त करेंगे ॥ १८ ॥

भावार्थ-ये दिव्य सोमरसकी धाराएं घी और मधुके साथ मिलकर प्राप्त हों।इनका सेवन करके तू इस भूमिको सूर्यसे भी परे स्वर्गधाममें स्थापित कर ॥ १५ ॥

तू जन्मरहित और सुखपूर्ण है । तू सब तेजस्वी लोकोंको जानता है । उन पुण्यमय लोकोंको मैं भी जानना चाहता हूं ॥ १६ ॥

हे तेजस्वी देव ! जिस शक्तिसे तू सहस्रों लोगोंको उच्च अवस्थातक लेजाता है, सब ज्ञान सबको पहुंचाता है, उस अद्वितीय शक्तिसे इस मेरे यज्ञको तू सब देवोंके पास पहुंचा, जिससे मुझे दिव्य तेजकी प्राप्ति होवे ॥ १७ ॥

पञ्च भोजन करनेवाला अजन्मा आत्मा परिपक्व होता हुआ अवनति दूर करता है और स्वर्गलोक प्राप्त करता है । हम सब उस परिपक्व आत्माके द्वारा प्रकाशवाले लोक प्राप्त कर सकेंगे ॥ १८ ॥

यं ब्राह्मणे निदधे यं च विक्षु या विप्रुषं ओदनानामजस्य ।
सर्वं तदग्ने सुकृतस्य लोके जानीतान्नः संगमने पथीनाम् ॥ १९ ॥
अजो वा इदमग्रे व्यक्रमत तस्योर इयमभवद् द्यौः पृष्ठम् ।
अन्तरिक्षं मध्यं दिशः पार्श्वे समुद्रौ कुक्षी ॥ २० ॥ (१२)
सत्यं चर्तं च चक्षुषी विश्वं सत्यं श्रद्धा प्राणो विराट् शिरः ।
एष वा अपरिमितो यज्ञो यदजः पञ्चौदनः ॥ २१ ॥

(यं ब्राह्मणे निदधे) जिसको ब्राह्मणमें रखता हूं, (यं च विक्षु) जिस को प्रजाजनोंमें रखता हूं और (अजस्य ओदनानां याः विप्रुषः) जो अजन्मा आत्माके भोगोंकी पूर्तियां हैं, हे अग्ने ! (नः सर्वं तत्) हमारा वह सब (सुकृतस्य लोके) पुण्य लोकमें, (पथीनां संगमने) मार्गोंके संगममें है, ऐसा (जानीतात्) जानो ॥ १९ ॥

(अजः वै अग्रे इदं व्यक्रमत) अजन्मा आत्मा हि पूर्वकालमें इस संसारमें विक्रम करता रहा । (तस्य उरः इयं अभवत्) उसकी छाती यह भूमि बनी और (द्यौः पृष्ठं) द्युलोक पीठ होगया । (अन्तरिक्षं मध्यं) अन्तरिक्ष मध्यभाग और (दिशः पार्श्वे) दिशाएं पार्श्वभाग तथा (समुद्रौ कुक्षी) समुद्र कोखें बनी ॥ २० ॥

(सत्यं च ऋतं च चक्षुषी) सत्य और ऋत ये उसकी आंखे, (विश्वं सत्यं) सब विश्व अस्तित्व, (श्रद्धा प्राणः) श्रद्धा प्राण, और (विराट् शिरः) विराट् सिर बना । (यत् पञ्चौदनः अजः) जो पञ्च भोजन अजन्मा आत्मा है वह (एषः वै अपरिमितः यज्ञः) यह सचमुच अपरिमित यज्ञ है ॥ २१ ॥

भावार्थ—जो ज्ञानियोंके लिये हम समर्पण करते हैं, जो प्रजाजनोंके लिये अर्पण करते हैं, जो अजन्मा आत्माके भोगोंकी पूर्तियां हैं, ये सब पुण्य लोकमें पहुंचानेवाले मार्गोंके सहायक हैं ऐसा जानो ॥ १९ ॥

इस जगत् में जो विक्रम है वह अजन्मा आत्माका हि है । इस आत्मा की छाती भूमी है, पीठ द्युलोक है, अन्तरिक्ष मध्यभाग है, दिशाएं बगल हैं और कोखें समुद्र हैं ॥ २० ॥

उसकी आखें सत्य और ऋत हैं, उसका अस्तित्व सब विश्व है, उसका

अपरिमितमेव यज्ञमाप्नोत्यपरिमितं लोकमव रुन्धे ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २२ ॥
नास्यास्थीनि भिन्द्यान्न मज्ज्ञो निर्धयेत ।
सर्वमेनं समादायेदमिदं प्र वेशयेत् ॥ २३ ॥
इदमिदमेवास्य रूपं भवति तेनैनं सं गमयति ।
इषं मह ऊर्जमस्मै दुहे योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥२४॥

अर्थ- (यः पञ्चौदनं) जो पांच भोजनोंवाले (दक्षिणाज्योतिषं अजं ददाति) दक्षिणाके तेजसे प्रकाशित अजन्मा आत्माका समर्पण करता है, वह (अपरिमितं यज्ञं आप्नोति) अपरिमित यज्ञको प्राप्त करता है, तथा (अपरिमितं लोकं अवरुंधे) अपरिमित लोकको अपने आधीन करता है॥२२॥

(अस्य अस्थीनि न भिंद्यात्) इसके हड्डियोंको न तोडे, (मज्ज्ञः न निः धयेत्) मज्जाओंको न पीवे, (एनं सर्व समादाय) इस सबको लेकर (इदं इदं प्रवेशयेत्) इसको इसमें प्रवेश करें ॥ २३ ॥

(इदं इदं एव अस्य रूपं भवति) यह यह हि इसका रूप होता है, (तेन एनं संगमयति) उसके साथ इसको मिलाता है। (अस्मै इषं महः ऊर्जं दुहे) इसके लिये अन्न तेज और बल मिलता है, (यः दक्षिणाज्योतिषं पञ्चौदनं अजं ददाति) जो दक्षिणाके तेजके साथ पञ्चभोजनवाले अजन्मा आत्माको समर्पित करता है ॥ २४ ॥

प्राण श्रद्धा और सिर संपूर्ण चमकनेवाले लोक हैं। यह पञ्चभोजनी अजन्मा आत्मा अनन्त यज्ञरूप है ॥ २१ ॥

यह पञ्चभोजनी अजन्मा आत्मा जो समर्पण करता है उसको उक्त कारण अनन्त यज्ञ करनेका फल प्राप्त होता है, और वह अनन्त लोकोंको प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

इस यज्ञके लिये किसी की हड्डियोंको तोडनेकी आवश्यकता नहीं और मज्जाओंको निचोडनेकी भी आवश्यकता नहीं है। इसका सबका सब लेकर इस विशालमें प्रविष्ट करना चाहिये ॥ २३ ॥

यही इस यज्ञका रूप है। उस विशालके साथ इसका संबंध जोडना है। इससे इसको अन्न बल और तेज प्राप्त होता है जो पंच भोजनी अजन्मा आत्माका समर्पण करता है ॥ २४ ॥

पञ्च॑ रुक्मा पञ्च॒ नवा॑नि॒ वस्त्रा॒ पञ्चा॑स्मै धे॒नवः॑ काम॒दुघा॑ भवन्ति ।
यो॒३॑जं पञ्चौ॑दनं॒ दक्षि॑णाज्योतिषं॒ ददा॑ति ॥ २५ ॥

पञ्च॑ रु॒क्मा ज्योति॑रस्मै भवन्ति॒ वर्म॑ वासां॑सि त॒न्वे॑ भवन्ति ।
स्व॒र्गं लो॒कम॑श्नुते॒ यो॒३॑जं पञ्चौ॑दनं॒ दक्षि॑णाज्योतिषं॒ ददा॑ति ॥ २६ ॥

या पूर्वं॒ पतिं॑ वि॒त्त्वाथा॒न्यं वि॒न्दते॑ऽपरम् ।
पञ्चौ॑दनं च॒ ताव॒जं ददा॑तो॒ न वि यो॑षतः ॥ २७ ॥

अर्थ- (यः दक्षिणा०) जो जो दक्षिणाके तेजके साथ पञ्चभोजनवाले अजन्मा आत्माका समर्पण करता है (अस्मै) इसके लिये (पञ्च रुक्मा) पांच मोहरें, (पञ्च नवानि वस्त्रा) पांच नये वस्त्र, और (पञ्च कामदुघाः धेनवः) पांच इष्ट समय दूध देनेवाली गौवें (भवन्ति) होती हैं ॥ २५ ॥

(यः दक्षिणा०) जो दक्षिणाके तेजके साथ पञ्च भोजनवाले अजन्मा आत्माका समर्पण करता है (अस्मै) इसके लिये (पञ्च रुक्मा) पांच सुवर्ण मुद्राएं (ज्योतिः भवन्ति) प्रकाशमान होती हैं। (तन्वे) शरीर के लिये (वर्म वासांसि भवन्ति) कवचरूपी वस्त्र होते हैं। और वह (स्वर्गं लोकं अश्नुते) स्वर्ग लोक प्राप्त करता है ॥ २६ ॥

(या पूर्वं पतिं वित्त्वा) जो पहिले पतिको प्राप्त करके, (अथ अपरं विन्दते) पश्चात् दूसरे अन्य को प्राप्त करती है, (तो पञ्चौदनं अजं ददतः) वे दोनों पञ्च भोजनवाले अजन्मा आत्माका समर्पण करके (न वियोषतः) वियुक्त नहीं होती ॥ २७ ॥

भावार्थ- इस समर्पण करनेवालेको पांच सुवर्ण, पांच नवीन वस्त्र, और पांच कामधेनु प्राप्त होती हैं ॥ २५ ॥

इस समर्पण करनेवाले को पांच सुवर्ण और पांच प्रकाश प्राप्त होकर शरीर के लिये कवच जैसे वस्त्र प्राप्त होते हैं और स्वर्ग लोक प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

जो पहिले पतिको प्राप्त करके पश्चात् पुनर्विवाहसे दूसरे पतिको प्राप्त करती है, वह इस पञ्च भोजनी अज का समर्पण करके वियुक्त नहीं होती ॥ २७ ॥

समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २८ ॥
अनुपूर्ववत्सां धेनुमनड्वाहमुपबर्हणम् ।
वासो हिरण्यं दत्त्वा ते यन्ति दिवमुत्तमाम् ॥ २९ ॥
आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम् ।
जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुपह्वये ॥ ३० ॥ (१३)
यो वै नैदाघं नामर्तुं वेद । एष वै नैदाघो नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः ॥
निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ ३१ ॥

अर्थ- (यः पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं अजं ददाति) जो पञ्च भोजन वाले दक्षिणाके तेजसे युक्त अजन्मा आत्माका समर्पण करता है वह (अपरः पतिः) दूसरा पति (पुनर्भुवा समानलोकः भवति) पुनर्विवाहित स्त्रीके साथ समान स्थानवाला होता है ॥ २८ ॥

(अनुपूर्ववत्सां धेनुं) क्रमसे प्रतिवर्ष बछडा देनेवाली गौको और (अनड्वाहं) बैलको तथा (उपबर्हणं वासः हिरण्यं) ओढणी, वस्त्र और सोना (दत्त्वा) देकर (ते उत्तमां दिवं यन्ति) वे उत्तम स्वर्गलोक को प्राप्त होते हैं ॥ २९ ॥

(आत्मानं पितरं पुत्रं) अपने आपको, पिताको, पुत्रको, (पौत्रं पितामहं) पौत्र को और पितामहको (जायां जनित्रीं मातरं) स्त्री और जननी माता को और (ये प्रियाः तान्) जो इष्ट हैं उनको मैं (उपह्वये) पास बुलाता हूं ॥ ३० ॥

भावार्थ— जो पञ्च भोजनी अजन्मा आत्माका समर्पण करता है वह दूसरा पति पुनर्विवाहित पतिके समान ही होता है ॥ २८ ॥

प्रतिवर्ष बच्चा देनेवाली गौ, उत्तम बैल, ओढनेका वस्त्र और सुवर्ण इनका दान करनेसे उत्तम स्वर्ग प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

अपना आत्मा, पिता, पितामह, पुत्र, पौत्र, धर्मपत्नी, जन्मदेनेवाली माता, और जो हमारे प्रिय हैं उन सबको मैं बुलाता हूं और यह ज्ञान सुनाता हूं ॥ ३० ॥

यो वै कुर्वन्तं नामर्तुं वेद॑ ।
कुर्वतीकुर्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते ॥
एष वै कुर्वन्नामर्तुर्यदजः ० । ० । ० ॥ ३२ ॥
यो वै संयन्तं नामर्तुं वेद॑ ।
संयतींसंयतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते ॥
एष वै संयन्नाम ० । ० । ० ॥ ३३ ॥
यो वै पिन्वन्तं नामर्तुं वेद॑ ।
पिन्वतींपिन्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते ॥
एष वै पिन्वन्नाम ० । ० । ० ॥ ३४ ॥

अर्थ- (एष वै नैदाघः नाम ऋतुः) यह निश्चयसे निदाघ अर्थात् ग्रीष्म ऋतु है (यः पञ्चौदनः अजः) जो पञ्च भोजनी अज है। (यः वै नैदाघं नाम ऋतुं वेद) जो इस ग्रीष्म ऋतुको जानता है और (यः दक्षिणा-ज्योतिषं पञ्चौदनं अजं ददाति) जो दक्षिणाके तेजसे युक्त पञ्च भोजनी अजका समर्पण करता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं निः दहति) अप्रिय शत्रुके श्रीको सर्वथा जला देता है और वह (आत्मना भवति) अपनी आत्मशक्तिसे प्रभावित होता है ॥ ३१ ॥

(एष वै कुर्वन् नाम ऋतुः यत् अजः ०) यह निःसंदेह कर्ता नामक ऋतु है जो अज पञ्च भोजनी है। (यः वै कुर्वन्तं नाम ऋतुं वेद०) कर्ता नामक इस ऋतुको जानता है और जो दक्षिणाके तेजसे युक्त इस पञ्च भोजनी अजका दान करता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय शत्रुके (कुर्वतीं कुर्वतीं एव श्रियं आदत्ते) प्रयत्नमयी श्रीको हर लेता है ॥ ३२ ॥

(एष वै संयत् नाम ऋतुः यत् अजः ०) यह संयम नामक ऋतु है जो पञ्च भोजनी अज है। (यः वै संयन्तं नाम ऋतुं वेद०) जो निश्चयसे संयम नामक ऋतु को जानता है और जो दक्षिणाके तेजसे युक्त पञ्च भोजनी अजका समर्पण करता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय शत्रुकी (संयतीं संयतीं एव श्रियं आदत्ते) संयमसे प्राप्त श्रीको हर लेता है ॥ ३३ ॥

यो वा उद्यन्तं नामर्तुं वेद ।
उद्यतीमुद्यतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते ॥
एष वा उद्यन्नाम ० । ० । ० ॥ ३५ ॥
यो वा अभिभुवं नामर्तुं वेद ।
अभिभवन्तीमभिभवन्तीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते ॥
एष वा अभिभूर्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः ।
निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना ॥
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ ३६ ॥

अर्थ-(एष वै पिन्वन् नाम ऋतुः यत् अजः ०) यह पोषण नामक ऋतु है जो पञ्चभोजनी अज है।(यः वै पिन्वन्तं नाम ऋतुं वेद०) जो निश्चयसे पोषक नामक ऋतुको जानता है और दक्षिणाके तेजसे युक्त पञ्चभोजनी अजका समर्पण करता है, वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य पिन्वन्तीं नाम श्रियं आदत्ते) अप्रिय शत्रुकी पोषक श्रीको हर लेता है ॥ ३४ ॥

(एष वै उद्यन् नाम ऋतुः यत् अज०) यह निःसन्देह उदय नामक ऋतु है जो पञ्चभोजनी अज है। (यः वै उद्यन्तं नाम ऋतुं वेद०) जो निश्चयसे उदयरूपी ऋतुको जानता है और दक्षिणायुक्त पञ्चभोजनी अजको देता है, वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय शत्रुकी (उद्यतीं उद्यतीं एव श्रियं आदत्ते) उदयको प्राप्त होनेवाली श्रीको हर लेता है ॥ ३५॥

(एष वै अभिभूः नाम ऋतुः) यह निःसन्देह विजय नामक ऋतु है (यत् अजः पञ्चौदनः) जो पञ्चभोजनी अज है। (यः वै अभिभुवं नाम ऋतुं वेद) जो विजय नामक इस ऋतुको जानता है और (यः दक्षिणा०) जो दक्षिणाके तेजसे युक्त पञ्च भोजनी अजका समर्पण करता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय शत्रुके (अभिभवन्तीं अभिभवन्तीं एव श्रियं आदत्ते) परास्त करनेवाली शोभाको हर लेता है। इसके (अप्रियस्य०) अप्रिय शत्रुकी श्रीको जला देता है और (आत्मना भवति) अपनी शक्तिसे रहता है ॥ ३६ ॥

भावार्थ-उष्णता, कर्म, संयम, वृष्टी, उद्यम, और विजय ये छः ऋतु हैं। ये छः ऋतु इस पंचभोजनी अजका रूप है। जो इस का स्वरूप जानता है और

अजं च पचत पञ्च चौदनान् ।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीः सान्तर्देशाः प्रति गृह्णन्तु त एतम् ॥३७॥
तास्ते रक्षन्तु तव तुभ्यमेतं ताभ्य आज्यं हविरिदं जुहोमि ॥ ३८ ॥ (१४)

(अजं पञ्च ओदनान् च पचत) इस अजन्माको और पांच भोजनोंको परिपक्व करो। (ते एतं) तेरे इस अजको (सर्वाः दिशः) सब दिशाएं (सान्तर्देशाः) आंतरिक प्रदेशोंके साथ (सध्रीचीः संमनसः) सहमत और एक विचारसे युक्त होकर (प्रतिगृह्णन्तु) स्वीकार करें ॥ ३७ ॥

(ताः ते तुभ्यं तव एतं रक्षन्तु) वे तेरी तेरे लिये तेरे इस आत्माकी रक्षा करें। (ताभ्यः इदं आज्यं हविः जुहोमि) उनके लिये इस घी और हवन सामग्री का हवन करता हूं ॥ ३८ ॥

इसका समर्पण करता है, वह शत्रुको परास्त करता है और अपने आत्मा की शक्ति बढाता है अर्थात् आत्मिक बलसे युक्त होता है ॥ ३१—३६ ॥

इस अज को और इसके पांचों भोगोंको परिपक्व बनाओ, सब दिशा और उपदिशाएं इसको अपनाएं, अर्थात् यह सब दिशाओंका बने ॥३७॥

ये सब आत्माकी रक्षा करें और आत्मरक्षासे तेरी उन्नति हो। इसी उद्देश्यसे इस घी की आहुती मैं देता हूं, यह एक समर्पण का उदाहरण है ॥ ३८ ॥

पञ्चौदन अज।

इस सूक्तमें 'पञ्चौदन अज' को स्वर्गधाम कैसा प्राप्त होता है, इसका वर्णन है। सबसे पहिले यह पञ्चौदन अज कौन है इस बातका परिचय करना चाहिये। 'पञ्चौदन अज' (पञ्च+ओदन अज) का अर्थ पांच प्रकारके भोजनोंवाल अज है। अर्थात् पांच प्रकार के अन्नका भोग करनेवाला यह अज है।

' अज ' शब्दके अर्थ— " अजन्मा, सदासे रहनेवाला, सर्व शक्तिमान् परमात्मा, जीव, आत्मा ; बालक ; बकरा ; धान्य ; " ये होते हैं। इनमेंसे यहां किसका ग्रहण करना चाहिये यह एक विचारणीय बात है। ' अज ' शब्दसे यहां परमात्माका ग्रहण करना अयोग्य है, क्योंकि वह स्वभावसे परम उच्च लोकमें सदा विराजमान हि है उसको उच्च लोकमें जानेकी आवश्यकतादि नहीं है । यहां इस सूक्तमें जिस अजका वर्णन है उसके विषयमें निम्न लिखित मंत्र देखिये—

सुकृतां लोकं गच्छतु प्रजानन् ॥ (मं० १)
तीर्त्वा तमांसि अजस्तृतीयं नाकं आक्रमताम् (मं १,३)
तृतीये नाक अधि विश्रयैनम् ॥ (मं० ४)
शृतो गच्छतु सुकृतां यत्र लोकः ॥ (मं० ५)
तृतीये नाके अधि विश्रयस्व ॥ (मं० ८)

" यह मार्ग जानता हुआ पुण्य कर्म करनेवालोंके लोकको प्राप्त करे। अन्धकार दूर करके तृतीय स्वर्गधामको प्राप्त होवे। परिपक्व होकर पुण्यवानोंके लोकको जावे। तृतीय स्वर्ग धाममें आश्रय कर।"

ये मंत्रभाग ऐसे आत्माको स्वर्ग धाम प्राप्त करनेके सूचक हैं कि जिसको पहिले स्वर्ग नहीं प्राप्त हुआ है, जो उत्तम लोक में नहीं पहुंचा है, जो अधम लोकमें है। अर्थात् यहां का अज शब्द परमात्माका वाचक नहीं, अपि तु ऐसे आत्माका वाचक है. जो उत्तम लोक को अभीतक प्राप्त नहीं हुआ है। 'अज' शब्दके दूसरे अर्थ 'धान्य' और 'बकरा' ये हैं। इनमें धान्यका स्वर्ग धामको प्राप्त होना असंभव है और बकरा स्वर्ग धामको जा सकता है वा नहीं, इस विषयमें शंकाहि है। क्योंकि स्वर्ग तो (सुकृतां लोकः) सत्कर्म करने वालोंका लोक है। जो स्वयं सत्कर्म कर सकते हैं, वे हि अपने किये सत्कर्मोंके बलसे स्वर्ग धामको जा सकते हैं। अतः धान्य और बकरा स्वयं सत्कर्म करनेमें समर्थ न होनेके कारण सुकृत-लोक को प्राप्त करने में असमर्थ हैं।

यहां कई कहेंगे कि जो बकरा यज्ञमें समर्पित किया जाता है, वह समर्पित होनेके कारण स्वर्गका भागी हो सकता है। यहां विचारणीय बात यह है कि, जो स्वयं स्वेच्छासे दूसरोंकी भलाईके लिये समर्पित होते हैं, जो परोपकारके लिये आत्मसमर्पण कर सकते है, वे स्वर्गधाम प्राप्त करनेके अधिकारी माने जा सकते हैं। जो लोग बकरे-को पकडते हैं और उसके मांसका हवन करते हैं, वे बकरेकी इच्छाका विचार हि नहीं करते। यदि इस प्रकारकी जबरदस्ती से स्वर्ग धामकी प्राप्ति होनेका संभव होगा, तो जो गौवें और बकरियां व्याघ्रके जीवनके लिये समर्पित हो जाती हैं, वे सबकी सब स्वर्गको पहुंचेंगी; इतना हि नहीं परंतु अज संज्ञक धान्य यज्ञाग्निमें आहुतिद्वारा समर्पित होनेपर सीधा स्वर्गको जायगा, समिधाएं और घी भी वहां पहुंचेगा। यह तो अव्यवस्था है। व्याघ्रने गौको मारा और खाया, तो इसमें गायका आत्मसमर्पण नहीं है। क्रूर राजा प्रजाको लूटकर उसकी धन संपत्ति इकट्ठी करके लेजाता है, वहां भी

उस पददलित प्रजाको परोपकार, दान या सर्वस्वका मेघ करनेका पुण्य नहीं मिल सकता। फल तब मिलेगा कि जब आत्मसर्वस्वका समर्पण स्वेच्छासे किया गया हो। पूर्वोक्त ' अज ' के अर्थोंमें ' धान्य, बकरा ' ये आत्मसमर्पण की बात जान हि नहिं सकते, इस लिये आत्मसमर्पण कर नहीं सकते। और ये स्वर्ग धामको प्राप्त नहीं हो· सकते। परमात्मा उत्तम लोकमें सदा उपस्थित होनेसे उसको कर्म विशेषसे आत्म-समर्पण द्वारा वह लोक प्राप्त होना है ऐसी बात नहीं है। अतः शेष रहा ' जीव आत्मा ' यही अर्थ यहां अपेक्षित है। यह सुकृत करता हुआ स्वर्गधाम को प्राप्त करता है और इसी कार्यके लिये संपूर्ण धर्मशास्त्र रचे गये हैं।

इस सूक्तके ' अज ' शब्दका प्रसिद्ध अर्थ ' बकरा ' लेकर कईयोंने बकरेको काटना, पकाना, उसके अंश सबको देना और उसको स्वर्गको भेजना ऐसे अर्थ किये हैं। वे उक्त कारण युक्तियुक्त नहीं है। अस्तु, इस तरह यहां इस सूक्तमें अज शब्दका अर्थ जीव, आत्मा किंवा जीवात्मा है।

अब देखना है कि इसको ' पञ्चौदन ' क्यों कहा है। यह पांच प्रकारका अन्न खाता है इसीलिये इसको ' पञ्चभोजनी ' अज कहा है। इसके पांच भोजन कौनसे हैं? शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पांच विषय इसके पांच भोजन हैं, ये परस्पर भिन्न हैं और ये इसके उपभोग के विषय हैं। इस विषयमें कहा है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥
ऋ० १।१६४।२०; अथर्व० ९।९।(१४)।२०

" एकहि (शरीररूपी) वृक्षपर दो पक्षी (दो आत्मा— जीवात्मा और परमात्मा) बैठे हैं। उनमें से एक (जीवात्मा) इस वृक्षका मीठा फल खाता है और दूसरा न खाता हुआ केवल प्रकाशता है। "

इस वृक्षको शब्द स्पर्श रूप रस और गंध ये पांच भोग रूपी फल लगते हैं। इनका भोग यह अजन्मा आत्मा करता है। इसके पञ्च ज्ञानेंद्रियोंसे ये पांच फल इसके पास पहुंचते हैं। मनुष्य ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी हो, बद्ध हो वा मुक्त हो, जबतक यह आत्मा शरीर में रहेगा, तबतक इसके पास ये पांच प्रकारके भोग प्राप्त होते रहेंगे। बद्ध स्थितिमें रहनेवाला आत्मा आसक्तिसे विषय सेवन करेगा और जीवन्मुक्त स्थितिमें रहा आत्मा आसक्ति छोड कर उदासीनतासे दर्शन करेगा। दोनोंको कानोंसे शब्द, त्वचासे स्पर्श, नेत्रसे रूप, जिह्वासे रस और नाकसे गन्ध प्राप्त होगा। ये पांच भोजन

इसके पास आवेंगे, कोई भोग करेगा और कोई नहिं यह बात दूसरी है । ' पंचौदन अज ' का यह अर्थ है और यह हरएक जीवात्मा के विषयमें अनुभवमें आसकता है । इस ' अज ' के स्वरूपका निश्चय स्वयं इस सूक्तने किया है, वह अब देखिये—

अजो अग्निः ; अजमु ज्योतिः आहुः ,
अजः तमांसि अपहन्ति ॥ (मं० ७)
अग्नेः अग्निः सं बभूविथ ॥ (मं० ९)
अजः हि अग्नेः शोकात् अजनिष्ट । (मं० १३)
विप्रस्य महसः विपश्चित् विप्रः अजनिष्ट । (मं० १३)
एष वा अपरिमितो यज्ञः यद्जः पञ्चौदनः । (मं० २१)

"अग्निका नाम अज है, ज्योतिका नाम अज है, यह अज अन्धकारको दूर करता है । अग्निसे अग्नि उत्पन्न हुआ है । अग्निके तेजसे अज उत्पन्न हुआ है । ज्ञानीकी महिमासे ज्ञानी विद्वान् जन्मा है । यह पञ्चौदन अज अपरिमित यज्ञ है ।" ये सब मंत्र भाग यहां अज शब्दसे आत्माका भाव है,ऐसा स्पष्ट कहते हैं। क्यों कि आत्मा, ज्योति, अग्नि, ज्ञानी, यज्ञ आदि शब्द जीवात्माके लिये वैदिक वाङ्मयमें आते हैं । येहि प्रति शब्द ' अज ' शब्दका अर्थ बतानेके लिये वेदने स्वयं दिये हैं और अज शब्दके अर्थके विषयमें संदेह निवृत्ती की है । इतना करनेपर भी यहांके अज शब्दका अर्थ ' बकरा ' है ऐसा जो मानते हैं, उनकी विचार शक्तिके विषयमें क्या कहा जाय, यही हमारे समझमें नहीं आता ।

यहां उक्त वचनोंमें कहा है कि इस सूक्तमें जिस अजका वर्णन है, वह अग्निके समान तेजस्वी, ज्योतिके समान प्रकाशमय, दीपके समान अन्धकारको दूर करनेवाला है, परमात्मारूप महान् अग्निसे इसकी उत्पत्ति हुई है, जिस प्रकार अग्नि प्रज्वलित होनेसे उसकी ज्वालासे स्फुलिंग चारों ओर उडते हैं, उसी प्रकार परमात्माकी दीप्तिसे जो स्फुलिंग चारों ओर फैले है, वे हि अनंत जीवात्मा हैं । परमात्मा चेतनस्वरूप है, उससे यह चेतनस्वरूप जीव आत्मा प्रकट हुआ है । यही यज्ञ स्वरूप है। इस प्रकारका वर्णन उक्त मंत्रभागोंमें है। यह देखनेसे स्पष्ट होजाता है कि यहां अज शब्दसे 'जीव आत्मा ' का ग्रहण करना योग्य है ।

बकरा ऐसा अर्थ यहां के अज शब्दका लेनेसे क्या बनता है ? और इन मंत्रोंकी संगतिभी कैसी लग सकती है ? क्या बकरा अग्नि है और ज्योति है, क्या कभी बकरे-के द्वारा अंधकार दूर हुआ है ? क्या कभी अग्निके प्रकाशसे बकरा प्रकट हुआ है ?

अर्थात् अज शब्दका अर्थ बकरा करनेपर पूर्वोक्त मंत्रोंका कोई सरल अर्थ नहीं लग सकता। अतः अज शब्दसे यहां 'जीव आत्मा' अर्थ लेना चाहिये, यह बात सिद्ध होगई। अब इसकी उच्च गति होनेके विषयमें इस सूक्तमें क्या कहा है, देखिये—

अजो वा इदमग्रे व्यक्रमत। (मं० २०)
अजः पक्वः स्वर्गे लोके दधाति, निर्ऋतिं बाधमानः। (मं० १९)
अजं च पचत पञ्च चौदनान्। (मं० ३७)

"यह (अजः) अजन्मा आत्मा जगत्के प्रारंभसे पराक्रम कर रहा है। यह अजन्मा आत्मा परिपक्व होनेपर अवनतिको दूर करके स्वर्गमें अपने आपको धारण करता है। अजको और पांच अन्नोंको परिपक्व करो।" इस जगत्में जो कुछभी पराक्रम हुए हैं वे इस आत्माके कारणहि हैं, इस जगत्में जो चल रहा है वह आत्माकी शक्तिहि है। शरीरमें जीवात्मा और विश्वमें परमात्मा कार्य कर रहा है। जीवात्मा प्रारंभमें अपरिपक्व अवस्थामें होता है, वह शुभ संस्कारों द्वारा परिपक्व बनता है और इसकी जितनी परिपक्वता होती है, उतना यह अपनीहि शक्तिसे अवनतिको दूर करता रहता है। इससे सिद्ध होता है कि जीवात्माकी दो अवस्थाएं हैं, कई तो परिपक्व स्थितिको प्राप्त होते हैं, शेष जितने हैं उतने सब अपरिपक्व अवस्थामें है अथवा परिपक्व होनेके मार्गमें होते हैं। इसीको मुक्त और बद्ध अवस्था कहते हैं।

यहां के 'अजः पक्वः' ये शब्द देखनेसे 'पकाया हुआ बकरा' ऐसा अर्थ कई लोग करते हैं, परन्तु पकाया हुआ बकरा स्वर्ग में जानेका अनुभव तो नहीं है, वह सीधा मांस भक्षकों के पेटमें जाता है। परंतु यहां का परिपक्व हुआ अज सीधा स्वर्गधामको जाता है, अतः यहां का अज अलग है। दूसरी बात यह है कि, 'पक्व' शब्द कई अर्थोंमें प्रयुक्त होता है, मनुष्य के विचार परिपक्व हुए हैं, उसका ज्ञान पक्व हुआ है, फल परिपक्व हुआ है, इस तरह इसका भाव बडा व्यापक है। यह परिपक्व कैसा होता है इस विषयमें निम्नलिखित मंत्रभाग देखिये—

नैदाघं ... कुर्वन्तं ... संयन्तं ... पिन्वन्तं उद्यन्तं...अभिभुवं
नाम ऋतुं वेद...श्रियं आदत्ते....आत्मना भवति॥ (मं० ३१-३६)

"उष्णता, कर्तृत्व, संयम, पोषण, उद्यम, और शत्रुजय ये छः आत्माके ऋतु हैं। जो इन ऋतुओंसे काम लेना जानता है वह श्रीको प्राप्त करता है और आत्माकी शक्तिसे युक्त होता है।" ये छः मंत्र आत्माकी उन्नति करनेवाली शक्तियोंके सूचक हैं। सबसे पहिले मनुष्यमें उष्णता-गर्मी-चाहिये, हरएक कार्य करनेकी स्फूर्ति इसीसे

होती है, पश्चात् कर्म करने चाहिये, क्यों कि शुभ कर्मोंसेहि सुकृत लोक प्राप्त होते हैं। शुभ कर्म करनेके लिये संयम चाहिये। बहुत कर्म होनेके लिये पुष्टि होनी चाहिये। सतत उद्यम करना चाहिये और बीचमें जो विघ्न आवेंगे उनको दूर हटा देनेका बलभी चाहिये। ये छः गुण होनेसे और इनके द्वारा योग्य दिशासे प्रयत्न होने से मनुष्यकी उन्नति होती है।

वस्तुतः यह अजन्मा आत्मा सुख स्वरूप और स्वर्गका अधिकारी है, यह कोई अनधिकारी नहीं है, यह अग्निकाहि स्फुलिंग है, अतः प्रकाशित होनेका अधिकारी है। यह परमात्माका अमृतपुत्र है इसलिये कहा है—

अजोऽसि, अज स्वर्गोऽसि। (मं० १६)

" तू जन्मरहित है, तू स्वयं स्वर्ग है। " तू अपने आपको पतित होने योग्य न मान, जन्ममरण धारण करने योग्य न समझ। तू वस्तुतः जन्म न धारण करनेवाला है और तू हि स्वर्ग है। फिर यह दुःख तुम्हारे ऊपर क्यों आता है? इसका विचार कर, अपने पूर्व कर्म देख और आगे अपनी उन्नतिके लिये उद्यम करके अपनी उन्नतिका साधन कर। इसकी उन्नतिके साधन का मार्ग यह है—

एतं आ नय; आरभस्व; प्रजानन्; सुकृतां लोकं गच्छतु ॥ (मं० १)

" इसको उत्तम मार्गसे चला; शुभ कर्मका प्रारंभ कर; उन्नति के मार्ग को जान कर: पुण्य लोकको प्राप्त कर। " इस उपदेशमें चार भाग हैं और ये महत्त्वपूर्ण हैं। सबसे पहिला भाग धर्ममार्गसे जानेका है, यह तो किसी उत्तम गुरुके आधीन रह कर हि तय किया जा सकता है, अतः पहिला (एतं नय) यह वाक्य गुरुसे कहा कि 'हे गुरो! तू इस शिष्यको सहारा देकर योग्य मार्ग से ले चल।' दूसरा वाक्य ऐसा है कि (आरभस्व) शुभ कर्मोंका प्रारंभ कर, जो पाठ गुरुसे प्राप्त हुआ है उसके अनुसार कर्म करना प्रारंभ कर। यहां कर्मोंका प्रारंभ हो जाता है। कर्म करते मनुष्य का अनुभव ज्ञान बढता है और वह (प्रजानन्) ज्ञानी होकर बढता जाता है। और अन्तमें (सुकृतां लोकं) पुण्य कर्म करनेवालोंके लोकको प्राप्त करता है। सामान्यतः मनुष्य की उन्नतिका सीधा मार्ग यही है। इस मार्गसे जानेवालेको अपने आपके अजन्मा होने का तथा स्वयं स्वर्गरूप होनेका अनुभव अन्तमें आजाता है। इस प्रकार यह मार्गका आक्रमण करता हुआ—

अजः महान्ति तमांसि बहुधा तीर्त्वा। (मं० १)
अजः विपश्यन् तमांसि बहुधा तीर्त्वा। (मं० ३)

अजः तमांसि दूरं अपहन्ति। (मं० ७ ; ११)

" यह अजन्मा आत्मा मार्गमें बडे बडे अन्धकारोंको (विपश्यन्) विशेष रीतिसे देखता है, और उन सब अन्धकारोंको (बहुधा) अनेक रीतियोंसे (तीर्त्वा) तैर कर, लांघ कर, दूर करके पार हो जाता है। " इस तरह यह अपना मार्ग खुला करता है और आगे बढता है। आगे बढते बढते—

अजः तृतीयं नाकं आक्रमताम् ॥ (मं० १ , ३)
सुकृतां लोकं गच्छतु ॥ (मं० १)
एनं तृतीये नाके अधि विश्रय। (मं० ४)
शृतः गच्छतु सुकृतां यत्र लोकाः। (मं० ५)
अतः परि ... तृतीयं नाकं उत्क्राम। (मं० ६)
सुकृतां मध्यं प्रेहि ; तृतीये नाके अधि विश्रयस्व। (मं० ८)

" शुभ कर्म करने वालोंके मध्यमें जा और वे पुण्यशील महात्मा लोग जहां जाते हैं, उस तृतीय स्वर्गधाम में जाकर विराजमान हो। " इस प्रकार इस की उन्नति हो जाती है। तीसरे स्वर्गधामको प्राप्त करनेकी योग्यता प्राप्त करनेके पूर्व पहिले और दूसरे स्वर्ग की योग्यता मनुष्य प्राप्त कर सकता है और अन्तमें उसको तृतीय स्वर्ग-धाम की प्राप्ति होना संभव है। ये तीन स्वर्ग कौनसे हैं, इसका भी यहां विचार करना चाहिये।

सब जानते हैं कि यह मनुष्यलोक है, जो स्थूल जगत् है इसीको मृत्युलोक कहते हैं, क्योंकि इसमें सदा घट बध हुआ करती है। इससे दूसरा परन्तु इसमें गुप्त रूपसे रहा सूक्ष्म लोक है, इस जगत् के प्रत्येक पदार्थकी प्रतिकृति इस सूक्ष्म सृष्टिमें रहती है। जागृतीके अन्दर कार्य करनेवाला मन सुप्त होने पर अनेक और विविध दृश्य - इससे भी अतितेजस्वी दृश्य - दिखाई देते हैं। यह सूक्ष्म सृष्टि है। इसको काम सृष्टि भी कहते हैं। स्थूल जगत् की हि यह प्रतिकृति होनेके कारण जो सुख दुःख स्थूल सृष्टिमें हैं वैसेहि इसमें होते हैं, तथापि स्थूलके बन्धन और प्रतिबंध इसमें न होनेसे इसका महत्त्व स्थूल से अधिक है। ये दोनों अनुभव जब समाप्त हो जाते हैं और कारण अवस्थामें जब मनुष्य पहुंच कर स्वतंत्रतासे विराजता है, तो उसको स्वर्गधाम प्राप्त होता है, ऐसा कहते हैं। इस में तीन दर्जे हैं ऐसा मानते हैं। प्रथम मध्यम और उत्तम ये तीन अवस्थाएं इस स्वर्गमें हैं। जिसके जैसे सुकृत होते हैं उसको वैसी अवस्था यहां प्राप्त होती है। सुकृत के अनुसार प्राप्त होने वाली यह-

अवस्था होनेके कारण इसमें प्रत्येक का अनुभव सुखात्मक होनेके कारण भिन्न भिन्न होता है । जिस प्रकार सुषुप्ति समाधि और मुक्तिमें ब्रह्मरूपता होती है, परंतु सुषुप्ति की निचले स्थानकी और मुक्तिकी उच्च स्थानकी होती है, इसी प्रकार यहां समझना उचित है ।

तृतीय स्वर्गधाममें पहुंचनेका आशय यह है । अतः पाठक इस अत्यन्त उच्च अवस्थाकी प्राप्ति करनेका यत्न करें । यही उत्तम स्थान, परमधाम, स्वर्ग या जो कुच्छ धर्मग्रंथोंसे वर्णित हुआ है वह यही है । सदाचार से इसकी प्राप्ति होती है । परिपक्व आत्मा होनेपर इसको प्राप्त कर सकता है, इस विषयमें निम्नलिखित मंत्रभाग देखने योग्य है—

तप्तात् चरोः अतप्तः (सन्) उत्क्राम । (मं० ६)

" तपे हुए पात्रमें रहता हुआ भी जो तप्त नहीं होता, वह उत्क्रान्त होनेका अधिकारी है । " येही विचार भिन्न शब्दों में इस प्रकार लिखे जा सकते हैं – " दुखी घरमें रहता हुआ भी दुःखसे अलिप्त रहनेवाला, रोगियोंके स्थान में रहता हुआ भी नीरोग रहनेवाला, परतन्त्र लोगोंमें विचरता हुआ भी जो परतन्त्र नहीं रहता, वही संतप्त प्रदेशमें शान्तिसे रह सकता है । " इसीका नाम तपस्या है ।

एक बर्तनमें खिचडी पक रही हो तो उसमें रहनेवाले सभी चावल और मूंगके दाने उबलने लगते है, यदि एकाध दाना न उबलता वैसाहि रहा, तो वह किसीके भी पेठमें हाजम नहीं होता । इसी प्रकार इस विश्वके वर्तनमें यह सब जगत् की खिजडी पक रही है । इस तपे और उबलते हुए बर्तन में जो न तपता हुआ और न गलता या न उबलता हुआ रहेगा, तो उसको इसके बाहर फेंका जाता है । यही उसकी उत्क्रान्ति है । आगे अथर्ववेद कां० ११ (३) में हि ब्रह्मौदन पक रहा है, इस सब सृष्टीके विशाल पात्रमें यह सब खिचडी पक रही है, ऐसा बडा मनोरंजक वर्णन अलंकार रूपसे आवेगा । वहां सबका पाक होरहा है ऐसा कहा है । इस तपे पात्रमें जह सबको हि संताप दुःख और कष्ट हो रहे हैं, वहां जो शान्त रहेगा उसीको धन्यता प्राप्त हो सकती है । कमलपत्र जैसा पानीमें रहता हुआ भी पानीसे नहीं भीगता, उसी प्रकार परिपक्वता को प्राप्त हुआ मनुष्य इस दुखी जगत्में रहता हुआ भी इस जगत्के दुःखों और कष्टोंसे अलिप्त रहता है । यह उदासीपन, वैराग्य, अलिप्तता, असंगवृत्ती अथवा अनासक्ति उन्नतिका श्रेष्ठ साधन है ।

भला जो लोग 'बकरेके मांसको पकानेका भाव' इन मंत्रोंसे निकालते हैं, वे तपे

हुए पात्रसे न तपे हुए बकरेके भागको किस प्रकार उन्नतिका पथ दिखा सकते हैं और तपे हुए पात्रमें कौनसा बकरेका भाग शान्त स्थितिमें रह सकता है ? वस्तुतः यह वर्णन हि अन्य स्थितिका वर्णन है। परंतु शब्दोंका भाव न समझने के कारण कई लोगोंने इसका विपरीत अर्थ कर लिया है। श्रीमद्भगवद्गीतामें जो असंगभाव और अनासक्तिका उपदेश है वही यहां इस मंत्रमें ' तपे पात्रमें न तपते हुए रहना ' इन शब्दोंसे किया है। पाठक इसको इस ढंगसे देखेंगे तो उनको कोई संदेह नहीं हो सकता। इस विषयमें आगे आत्मशुद्धिका एक अपूर्व उपाय भी बताया है—

यत् दुश्चरितं चचार, पदः प्र अवनेनिग्धि,
प्रजानन् शुद्धैः शफैः आक्रमताम्॥ (मं० ३)

" जो दुराचार हुआ है और जिससे पांव मलिन हुए हैं, तो अपने पांव धो डाल और इस बातको जान लो कि इस प्रकार चलेनेसे पांव मलित हो जाते हैं। अतः शुद्ध पांवोंसे आगे बढ। " दुराचार से पांव मलिन होते हैं उनको धोना चाहिये। अपने पांव स्वच्छ रख कर स्वच्छ भूमिपर पांव रखनेसे आगे दुष्ट आचार होनेकी संभावना नहीं है। यहां उपलक्षणसे (दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं) इस स्मृतिके वचनका ही आशय कहा है। इस प्रकार आत्मशुद्धिका मार्ग बताया है, अथर्ववेदमें पूर्वस्थानपर इसीका वर्णन अन्य रीतिसे किया है—

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव।
पूतं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैनसः॥ अथर्व० ६।११५।३

" जिस प्रकार बंधनस्तंभसे पशु मुक्त होता है, जैसा मनुष्य स्नानके द्वारा मलसे मुक्त होता है अथवा जैसा छाननीसे घी पवित्र होता है, उस प्रकार मुझे पापसे पवित्र करो। " इसी मंत्रके उपदेशके अनुसार इस सूक्तके मंत्रमें (शुद्धैः शफैः आक्रमतां) अपने पांव निर्मल करके आगे बढनेको कहा है। अपना शुद्ध चालचलन रखनेका उपदेश इस आज्ञामें है। वेदमें ' चरित्र ' शब्दके ' पांव ' और ' चालचलन ' ऐसे दो अर्थ हैं। अर्थात् पांव (पाद) वाचक शब्दोंका अर्थ चालचलन ऐसा हो सकता है। इस प्रकार आचरण-शुद्धिसे आत्मशुद्धि करनेका उपदेश यहां किया है। इस तरह आत्मशुद्धि होनेके बाद इसका परमात्माके लिये समर्पण होना चाहिये, यही इसका आत्मसमर्पण है। देखिये इस विषयमें यह मंत्र विचारणीय है—

जीवता अजं ब्रह्मणे देयं आहुः। (मं० ७)
अदभानेन दुतः अजः तमांसि अपहन्ति। (मं० ७)

" जीवित मनुष्यको उचित है कि वह अपने (अ-जं) आत्मा का समर्पण (ब्रह्मणे) परब्रह्मके लिये करे । आत्मा परमात्माके लिये समर्पित होवे । इस प्रकार श्रद्धापूर्वक समर्पित हुआ यह अजन्मा आत्मा सब प्रकारके अज्ञानान्धकार दूर करता है । " समर्पित होनेसे इसकी शक्ति बढती है, समर्पित होनेसे इसका तेज संवर्धित होता है । अब इसके पराक्रमका क्षेत्र देखिये-

पञ्चौदनः पञ्चधा विक्रमताम् । (मं० ८)

" उक्त पञ्चभोजनी अजन्मा आत्मा पांच प्रकारके कार्यक्षेत्रमें पराक्रम करे । " कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेंद्रिय, मन, चित्त और बुद्धि ये इसके पांच कार्यक्षेत्र हैं, इन क्षेत्रोंमें यह जीव आत्मा कार्य करता है । इन क्षेत्रोंमें यह खूब विक्रम करे । क्यों कि इसके विक्रम करनेसे हि इस की उन्नति हो सकती है । विक्रम के विना किसीकी भी उन्नतिकी संभावना नहीं हो सकती । यह विक्रम करनेसे इसको (त्रीणि ज्योतींषि आक्रंस्यमानः । (मं० ८) तीन तेजों की प्राप्ति करता है । इसमें एक तेज स्थूलका है, दुसरा मनका है और तीसरा तेज आत्मिक है । इन तीनों तेजोंमें उन्नति होती है, अर्थात् इसके ये तेज बढते हैं । परंतु इसमें तेजोंकी वृद्धि तब होती है कि जब इसका परमात्माके लिये समर्पण होता है । तात्पर्य यह है कि, आत्माका समर्पण मुख्य है, यही उन्नतिका मुख्य साधन है । इसके विना उन्नति असंभव है । यह दर्शानेके लिये-

त्वा इन्द्राय भागं परिनयामि । (मं० २)
पञ्चौदनः ब्रह्मणे दीयमानः । (९ ; १०)
पञ्चौदनं अजं ब्रह्मणे ददाति । (मं० ११ ; १२)
यं ब्रह्मणे निदधे । (मं० १९)

इतने मंत्रोंमें ब्रह्मके लिये अजन्मा आत्माका समर्पण करनेका वारंवार उपदेश किया है । जो बात विशेष महत्त्वपूर्ण होती है, वह वेदमें इस प्रकार वारंवार दुहराई जाती है । अर्थात् वेदमें जो उपदेश वारंवार आता है, वह अधिक महत्त्वपूर्ण है ऐसा समझना चाहिये ।

अब चतुर्थ और पञ्चम मंत्रमें शमिताके कर्मका उल्लेख है । इसमें त्वचाके काटने और जोडोंके अनुसार व्यवस्था करनेका तथा पात्रमें भर देनेका उल्लेख है । इस क्रियाके करनेसे यह सुकृती लोगोंके मध्यमें जाता है ऐसा कहा है । यदि इन मंत्रोंसे पशुके काटनेका ही उद्देश है तो आगे ऐसा क्यों कहेंगे कि—

नास्यास्थीनि भिन्द्यान्न मज्ज्ञो निर्धयेत्।
सर्वमेनं समादायेदमिदं प्रवेशयेत् ॥ (मं० २३)

"इसकी हड्डियां न टूटें, न इसकी मज्जा पी जावे या चूवे, इस सबको लेकर इसमें प्रवेश करावे।" यह इसके अवयव न काटनेकी ओर इशारा है, मज्जा भी नहीं पी जावे अर्थात् इसको काटना नहीं चाहिये। इसकी हड्डियां अलग नहीं करनी चाहिये। इसकी मज्जा निकालनी नहीं चाहिये। यह इशारा स्पष्ट है। इसमें कहा है कि इसके सबके सब भागको लेकर इसमें अर्थात् ब्रह्म या परमात्मामें समर्पण करो। यह ही आशय इसके सब भागको उसमें प्रविष्ट करनेका है। अपने आपको परमात्माकी गोदमें सौंप देना, यही भक्तिभावकी अन्तिम सीमा है।

यदि ऐसा है तो शमिताका त्वचाका काटना और जोडोंके अनुसार उसके अवयवों को समर्थ बनानेका भाव क्या है, यह शंका यहां आसकती है। इस शंकाके उत्तरमें निवेदन यह है कि पूर्वोक्त मंत्रोंमें जो काटना कूटना लिखा है, वह उसी मर्यादातक है कि जिस मर्यादामें उसकी हड्डियां अलग न हों, मज्जा बाहर न चूवे और अवयव अलग न हों, परंतु सब अवयव समर्थ हों। (मा अभिद्रुहः, परुशः एनं कल्पय। मं० ५) इसका द्रोह न करना और प्रत्येक जोडमें इसको समर्थ बनना। वध करना यदि चतुर्थ और पञ्चम मंत्रको अभीष्ट होता, तो उसका द्रोह न करनेकी आज्ञा उसमें क्यों आती? वध से और दूसरा द्रोह तो क्या हो सकता है? और प्रत्येक अवयव को समर्थ बनाना भी वधसे कैसा होगा? वध न किया तो कदाचित् किसी उपायसे उसके अवयव समर्थ बनाये जा सकते हैं; परंतु वध करनेके पश्चात् तो समर्थ बनाना हि असंभव है। अतः यहां वध अभीष्ट नहीं है, यह निश्चय है।

हमें ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ चमडीके खुरचने और जोडोंमें धमनियोंको शस्त्रों द्वारा उत्तेजित करनेकी विधि इन मंत्रोंमें लिखि है। जैसे एक प्रकारका संधिवात जोडोंमें सुईके अग्रभाग द्वारा कुछ वनस्पतिरस डालनेसे ठीक होता है। ये सुईयां तांबे की, चांदीकी और सोनेकी होती हैं और इसी प्रकारके कुछ शस्त्रविशेष भी होते हैं। इनसे चर्मको कुछ अंशमें हटाकर उसमें विशेष औषधिप्रयोग करनेसे शरीरके अवयव समर्थ होते होंगे। यह विधि अभीतक अज्ञात है, परंतु इसका स्वरूप इस प्रकारका कुछ है इसमें संदेह नहीं है। अस्तु, यह विषय खोजके योग्य है।

यदि कोई मनुष्य यहां इन मंत्रोंमें (अज) बकरेके वधका उल्लेख है, ऐसाहि

आग्रह करे, तो वह मंत्र २० और २१ देखे, इनमें " अज के विश्वरूपका वर्णन " है। समुद्र जिसकी कोखमें हैं, उर पृथ्वी है, द्युलोक उसकी पीठ है इत्यादि वर्णन कभी बकरेका नहीं हो सकता। और यदि हो सकता है तो ' अज ' अर्थात् अजन्मा परमात्माका हो सकता है। इस परमात्माके पुत्र जीवात्माका भी यह वर्णन हो सकता है। क्योंकि परमपिताके गुणधर्म अंशरूपसे पुत्रमें आते हैं और पुत्रका विकास होनेपर पुत्रके भी गुणधर्म पिताके समान होना संभव है, अर्थात् जब जीवात्मा उन्नत होता हुआ परमात्मरूप बनता है, उस समय ये हि वर्णन उसमें घट सकते हैं। इस का विचार करनेपर इस सूक्तके ' अज ' शब्दका अर्थ आत्मा है, इस विषयमें सन्देह नहीं हो सकता और जीवात्मा का पूर्णतया समर्पण परमात्माके लिये करनेसे हि जब जीवात्मामें परमात्म भाव आजाय, उसी समय इसका भी पृष्ठभाग द्युलोक और अन्तरिक्ष मध्यभाग और पृथ्वी तलका भाग हो सकता है। जैसा कि मं० २० और २१ में कहा है। और इसी लिये इसको आगे—

एष वा अपरिमितो यज्ञो यदजः पञ्चौदनः ॥ (मं० २१)

" यह अपरिमित यज्ञ है जिसका नाम अज अर्थात् अजन्मा आत्मा है। " जीवात्मा-परमात्मामें हि यह अपरिमितता हो सकती है, बकरेमें इस प्रकारकी अपरिमितता की कल्पना करना असंभव प्रतीत होता है। जीवात्मा की शक्ति और उन्नति अपरिमित है, इसी लिये—

अपरिमितं यज्ञं आप्नोति। अपरिमितं लोकं अवरुद्धे। (मं० २२)

"आत्माका समर्पण करनेसे अपरिमित यज्ञ होता है और आत्मसमर्पण करनेसे अपरिमित लोक प्राप्त होते हैं।" अपरिमितके दानसे हि अपरिमित फल प्राप्त हो सकता है। अन्य सब दान परिमित हैं, आत्माका दान हि अपरिमित दान है। इसीलिये अन्य पदार्थके दानसे परिमित लोक प्राप्त होते हैं और इस आत्माका समर्पण करनेसे अपरिमित लोकोंकी प्राप्ति हो जाती है।

आत्मसमर्पणके साथ वस्त्र और सुवर्ण दान भी होना चाहिये, इस विषयका विधान मं० २५; २६ और २९ में है। क्यों कि सदा दान दक्षिणाके साथ हि हुआ करता है। दक्षिणाके विना दान फलहीन हुआ करता है। मंत्र २७ और २८ में "पुनर्विवाहित पतिपत्नी पञ्चौदन अजका दान करेंगे तो वियुक्त नहीं होती" ऐसा कहा है। पाठक यहां देखें कि इन मंत्रोंमें 'ब्रह्मणे' पद नहीं है। अर्थात् यहां का आत्मसमर्पण ब्रह्मके

लिये नहीं है। पतिका पञ्चभोजनी आत्मा पत्निको समर्पित होवे और पत्नीका आत्मा पतिके लिये समर्पित होवे। पुनर्विवाहित पति हो अथवा पत्नी हो, वे पूर्व पत्नी या पतिका चिन्तन न करें, वे इस पत्नी पति को हि अपना सर्वस्व समझें। पूर्वका स्मरण करते रहनेसे परिवारमें झगडा हो सकता है और संसारका सुख दूर होता है, इसलिये कहा है कि, पति पत्नी के लिये आत्मसमर्पण करे और पत्नी पतिके लिये आत्मसमर्पण करे। यहां कई पूछेंगे कि प्रथम वारके पतिपत्नीके विषयमें ऐसा आदेश क्यों नहीं दिया है? इसका कारण इतना हि है कि, प्रथम वार की पतिपत्नीको सामने रखनेके लिये दूसरी पत्नी या दूसरा पति नहीं होता, इससे उनको परस्पर प्रेम करना क्रमप्राप्त हि है। परंतु पुनर्विवाहित पतिपत्नीको पूर्वसंबंधका स्मरण होना संभव है, इसलिये उस दोषका निवारण करनेके लिये यहां सूचना दी है। और वह नितान्त योग्य है।

उनत्तीस वे मन्त्रमें कहा है कि गौ, वस्त्र और सुवर्णका दान करनेसे स्वर्गप्राप्ति होती है। सत्पात्रमें दान करनेसे बडा फल हो सकता है। इनके दानका महत्त्व अन्यान्य शास्त्रोंमें भी वर्णन किया है। तीसवे मंत्रमें अपने सब संबंधियों और इष्टमित्रोंको पुकार पुकार कर कहा है कि, पूर्वोक्त उपदेशका वे उत्तम प्रकार स्मरण रखें और उस रीतिसे अपनी उन्नतिकी प्राप्ति करा लेवें।

इस प्रकार इस सूक्तमें आत्मोन्नतिका विषय कहा है। निःसन्देह इस के कुछ मंत्रभाग कठिण और संदिग्ध हैं, तथापि यहां वर्णन की हुई रीतिके अनुसार विचार करनेसे पाठकोंको इसका आशय समझमें आसकता है। आशा है इस ढंगसे विचार करके पाठक इस सूक्तके कुछ संदेह-स्थानोंको अधिक सुबोध कर सकेंगे।

अतिथि-सत्कार ।

[६]

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता-अतिथिः, विद्या ।)

[१] यो वि॒द्याद् ब्रह्म॑ प्र॒त्यक्षं॒ परू॑षि॒ यस्य॑ सं॒भारा॑ ऋ॒चो यस्या॑नू॒क्य॑म् ॥१॥
सामा॑नि॒ यस्य॒ लोमा॑नि॒ यजु॒र्हृद॑यमु॒च्यते॑ । परि॒स्तर॑ण॒मिद्ध॒विः ॥ २ ॥
यद् वा अति॑थिपति॒रति॑थीन् प्रति॒ पश्य॑ति दे॒वयज॑नं॒ प्रेक्ष॑ते ॥ ३ ॥
यद॑भि॒वद॑ति दी॒क्षामु॒पैति॒ यदु॑द॒कं याच॑त्य॒पः प्र ण॑यति ॥ ४ ॥
या ए॒व य॒ज्ञ आप॑ः प्रणी॒यन्ते॒ ता ए॒व ताः ॥ ५ ॥
यत् तर्प॑णमा॒हर॑न्ति॒ य ए॒वाग्नी॑षो॒मीय॑ः प॒शुर्ब॒ध्यते॒ स ए॒व सः ॥६॥
यदा॑वस॒थान् क॒ल्पय॑न्ति सदोहवि॒र्धाना॒न्येव तत् क॑ल्पयन्ति ॥७॥

अर्थ- (यः प्रत्यक्षं ब्रह्म विद्यात्) जो प्रत्यक्ष ब्रह्मको जानता है, (यस्य परूंषि संभाराः) उसके अवयव यज्ञसामग्री हैं, (यस्य अनूक्यं ऋचः) उसकी रीढ ऋचाएं हैं ॥ (यस्य लोमानि सामानि) उसके बाल साम हैं, और उसका (हृदयं यजुः उच्यते) हृदय यजु है ऐसा कहा जाता है। तथा उसका (परिस्तरणं इत् हविः) ओढनेका वस्त्र हवि है ॥ १—२ ॥

(यत् वै अतिथिपतिः) जो तो गृहस्थ (अतिथीन् प्रतिपश्यति) अतिथियोंकी ओर देखता है, मानो वह (देवयजनं प्रेक्षते) देवयज्ञ को ही देखता है ॥ (यत् अभिवदति दीक्षां उपैति) जो अतिथिसे बात करता है वह यज्ञदीक्षा लेनेके समान है। (यत् उदकं याचति) जो तो वह जल मांगता है, और (अपः प्र णयति) जल उसके आगे धर देता है ॥ वह मानो (याः एव यज्ञे आपः प्रणीयन्ते) जो यज्ञमें जल ले जाते हैं (ताः एव ताः) वही वह जल है ॥ ३-५ ॥

(यत् तर्पणं आहरन्ति) जो पदार्थ अतिथिकी तृप्ति करनेके लिये ले आते हैं, (यः एव अग्नीषोमीयः पशुः बध्यते स एव सः) वह मानो अग्नी और सोमके लिये पशु बांधा जाता है, वही वह है। (यत् आवसथान् कल्पयन्ति) जो अतिथिके लिये स्थान का प्रबंध करते हैं (सदोहविर्धानानि एव तत् कल्पयन्ति) वह मानो यज्ञमें सद और हविर्धानकी

यदुपस्तृणन्ति बर्हिरेव तत् ॥ ८ ॥

यदुपरिशयनमाहरन्ति स्वर्गमेव तेन लोकमवरुन्द्धे ॥ ९ ॥

यत् कशिपूपबर्हणमाहरन्ति परिधय एव ते ॥ १० ॥

यदाञ्जनाभ्यञ्जनमाहरन्त्याज्यमेव तत् ॥ ११ ॥

यत् पुरा परिवेषात् खादमाहरन्ति पुरोडाशावेव तौ ॥ १२ ॥

यदशनकृतं ह्वयन्ति हविष्कृतमेव तद्ध्वयन्ति ॥ १३ ॥

ये व्रीहयो यवा निरूप्यन्तेंशव एव ते ॥ १४ ॥

यान्युलूखलमुसलानि ग्रावाण एव ते ॥ १५ ॥

रचना करना हि है ॥ (यत् उपस्तृणन्ति) जो बिछाया जाता है (बर्हिः एव तत्) वह मानो यज्ञका कुशा घास हि है ॥ (यत् उपरिशयनं आहरन्ति) जो उसपर बिछौना लाते हैं (तेन स्वर्गं लोकं अवरुन्द्धे) उससे स्वर्ग लोक हि मानो समीप लाते हैं ॥ ६-९ ॥

(यत् कशिपु उपबर्हणं आहरन्ति) जो चादर और सिरहान-अतिथि के लिये ले आते हैं, वह मानो यज्ञके (ते परिधयः एव) परिधि हैं ॥ (यत् आञ्जन-अभ्यञ्जनं आहरन्ति) जो आंखोंके लिये अञ्जन और शरीर के मलनेके लिये तेल लाते हैं, वह मानो, (तत् आज्यं एव) वह घृत हि है ॥ १०—११ ॥

(यत परिवेशात् पुरा) जो भोजन परोसनेके पूर्व अतिथिके लिये (खादं आहरन्ति) खानेके हेतुसे लाते हैं वह मानो, (तौ पुरोडाशौ एव) पुरोडाश हैं ॥ (यत् अशनकृतं ह्वयन्ति) जो भोजन बनानेवालेको बुलाते हैं, वह मानो (हविष्कृतं एव तत ह्वयन्ति) हवीकी सिद्धता करनेवाले को बुलाना है ॥ १२—१३ ॥

(ये व्रीहयो यवा निरूप्यन्ते) जो चावल और जौ देखे जाते हैं (ते अंशवः एव) वे सोमलताके खण्ड हि हैं ॥ (यानि उलूखलमुसलानि) जो ओखली और मुसल अतिथिके लिये धान्य कूटनेके काम आते हैं मानो (ते ग्रावाणः एव) वे सोमरस निकालनेके पत्थर ही हैं ॥ १४-१५ ॥

शूर्पं पवित्रं तुषा ऋजीषाभिषवणीरापः ॥ १६ ॥
स्रुग् दर्विर्नेक्षणमायवनं द्रोणकलशाः कुम्भ्यो वायव्यानि पात्राणीयमेव कृष्णाजिनम् ॥ १७ ॥ (१५)

[२] यजमानब्राह्मणं वा एतदतिथिपतिः कुरुते यदाहार्याणि प्रेक्षत इदं भूया ३ इदा ३ मिति ॥ १ ॥ १८ ॥
यदाह भूय उद्धरेति प्राणमेव तेन वर्षीयांसं कुरुते ॥ २ ॥ १९ ॥
उप हरति हवींष्या सादयति ॥ ३ ॥ २० ॥

अर्थ-(शूर्प पवित्रं) अतिथिके लिये जो छाज वर्ता जाता है वह यज्ञमें वर्ते जानेवाले पवित्र के समान है, इसी प्रकार (तुषा ऋजीषा) धानके तुष होते हैं वे सोमरस छाननेके बाद अवशिष्ट रहनेवाले सोमतन्तुओंके समान हैं। (अभिषवणीः आपः) अतिथिभोजन के लिये प्रयुक्त होनेवाला जल यज्ञ के जलके समान है ॥ (दर्वी स्रुक्) कडछी स्रुचा के समान है, (आयवनं ईक्षणं) पकते समय अन्नका हिलाना यज्ञके ईक्षण कर्मके समान है,(कुम्भ्यः द्रोणकलशाः)पकानेके देगची आदि पात्र यज्ञके द्रोणकलशों के समान हैं, (पात्राणि वायव्यानि) अतिथिके लिये जो अन्य पात्र लाये जाते हैं वे यज्ञके वायव्य पात्र ही हैं और (इयं एव कृष्णाजिनं) यही कृष्णाजिन है ॥ (१६-१७)

भावार्थ-अतिथि घरमें आनेपर उसके लिये जो जो पदार्थ दिये जाते हैं वे मानो यज्ञके अन्दर प्रयुक्त होनेवाले पदार्थोंके समान ही हैं। अर्थात् अतिथिका सत्कार करना एक यज्ञ करनेके समान ही है ॥ १-१७ ॥

अर्थ— [२] (इदं भूयाः इदं इति) यह अधिक या यह थोडा है ऐसा जो (आहार्याणि प्रेक्षते) अतिथिको देने योग्य पदार्थोंका निरीक्षण करता है, वह (अतिथिपतिः) अतिथिका पालन करनेवाला यजमान (एतत्) इससे मानो (यजमान-ब्राह्मणं वै कुरुते) यजमानके ब्राह्मणके समान कार्य करता है ॥ १ ॥ १८ ॥

(यत् आह) जो कहता है कि (भूयः उद्धर इति) अधिक परोस कर अतिथिको दो, तो (तेन) इससे वह (प्राणं वर्षीयांसं एव कुरुते) अपने प्राणको चिरस्थायी बनाता है ॥ जो उसके पास लाकर (उपहरति)

तेषामासन्नानामतिथिरात्मन् जुहोति ॥ ४ ॥ २१ ॥
स्रुचा हस्तेन प्राणे यूपे स्रुक्कारेण वषट्कारेण ॥ ५ ॥ २२ ॥
एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्चर्त्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः ॥ ६ ॥ २३ ॥
स य एवं विद्वान् न द्विषन्नश्नीयान्न द्विषतोऽन्नमश्नीयान्न
मीमांसितस्य न मीमांसमानस्य ॥ ७ ॥ २४ ॥
सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति ॥ ८ ॥ २५ ॥
सर्वो वा एषोऽजग्धपाप्मा यस्यान्नं नाश्नन्ति ॥ ९ ॥ २६ ॥
सर्वदा वा एष युक्तग्रावार्द्रपवित्रो वितताध्वर
आहृतयज्ञक्रतुर्य उपहरति ॥ १० ॥ २७ ॥

ले जाता है वह मानो (हवींषि आसादयति) हविके पदार्थ लाता है ॥ २—३ ॥ १९—२० ॥

(तेषां आसन्नानां) उन लाये पदार्थोंमेंसे कुछ पदार्थोंका (अतिथिः आत्मन् जुहोति) अतिथि अपने अन्दर हवन करता है, वह भोजन स्वीकारता है ॥ (हस्तेन स्रुचा) हाथरूपी स्रुचासे, (प्राणे यूपे) प्राण-रूपी यूपमें (स्रुक्कारेण वषट्कारेण) भोजन खानेके 'स्रुक् स्रुक्' ऐसे शब्दरूपी वषट्कारसे वह अपनेमें एक एक आहुति डालता है ॥ (यत् अतिथयः) जो ये अतिथि हैं वे (प्रियाः अप्रियाः च) प्रिय हों अथवा अप्रिय हों, वे (ऋत्विजः) आतिथ्य यज्ञके ऋत्विज यजमानको (स्वर्गं लोकं गमयन्ति) स्वर्गलोक को पंहुचाते हैं ॥ ४-६ ॥ २१—२३ ॥

(यः एवं विद्वान्) इस तत्त्वको जानता हुआ (सः द्विषन् न अश्नीयात्) वह किसीका द्वेष करता हुआ न भोजन करे । (द्विषतः अन्नं न अश्नीयात्) द्वेष करनेवाले भोजन न खावे (न मीमांसितस्य) संशयित आचरणवाले मनुष्य का भोजन न खावे और (न मीमांसमानस्य) न संदेह करनेवालेका अन्न अतिथि खावे ॥ ७ ॥ २४ ॥

(यस्य अन्नं अश्नन्ति) जिसका अन्न अतिथिलोग खाते हैं, (सर्वः वै एष जग्धपाप्मा) उसके सब पाप जल जाते हैं ॥ तथा (यस्य अन्नं न अश्नन्ति) जिसका अन्न अतिथि नहीं खाते (सर्वः वै एष अजग्धपाप्मा) उसके सब पाप वैसे के वैसे रहते हैं ॥ ८-९ ॥ २५-२६ ॥

(यः उपहरति) जो गृहस्थ अतिथिकी सेवाके लिये आवश्यक सामग्री

प्राजापत्यो वा एतस्य यज्ञो विततो य उपहरति ॥ ११ ॥ २८ ॥
प्रजापतेर्वा एष विक्रमाननु विक्रमते य उपहरति ॥ १२ ॥ २९ ॥
योऽतिथीनां स आहवनीयो यो वेश्मनि स गार्हपत्यो
यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः ॥ १३ ॥ ३० ॥ (१६)
[३] इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥१॥३१॥
पयश्च वा एष रसं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ २ ॥ ३२ ॥
ऊर्जां च वा एष स्फातिं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ ३ ॥ ३३ ॥
प्रजां च वा एष पशूंश्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ ४ ॥ ३४ ॥

उसके पास ले जाता है वह मानो (सर्वदा वै एषः युक्तग्रावा) वह सदा-सर्वदा सोमरस निकालनेके पत्थरोंसे रस निकालता हि रहता है, वह सर्वदा (आर्द्र पवित्रः) रस छानता रहता है, जिसकी छानती सदा गीलि रहती है, वह (वितत-अध्वरः) सदा यज्ञ करता है, वह सदा (आहुत-यज्ञ-क्रतुः) यज्ञ समाप्त करनेके समान रहता है ॥ १० ॥ २७ ॥

(यः उपहरति) जो अतिथिको समर्पण करता है वह मानो (एतस्य प्राजापत्यः वैः यज्ञः विततः) उसके प्राजापत्य यज्ञका फैलाव हुआ है ॥ (यः उपहरति) जो अतिथिको दान देता है वह मानो (प्रजापतेः विक्रमान् अनुविक्रमते) प्रजापतिके विक्रमोंका अनुकरण करता है ॥ ११-१२ ॥ २८—२९ ॥

(यः अतिथीनां) जो अतिथियोंके शरीरमें पाचक अग्नि है (सः आहवनीयः) वह आहवनीय अग्नि है, (यः वेश्मनि सः गार्हपत्यः) जो घरमें अग्नि होता है वह गार्हपत्य अग्नि है, (यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः) जिस पर अन्न पकाते हैं वह दक्षिणाग्नि है ॥ १३ ॥ ३० ॥

भावार्थ— अतिथिका योग्य आदर-सत्कार करना मानो बडे बडे यज्ञ करनेके समान है ॥ १–१३ ॥ १८–३० ॥

अर्थ— [३] (यः अतिथेः पूर्व अश्नाति) जो अतिथिके पूर्व स्वयं भोजन करता है (एष) वह (ग्रहणां इष्टं च वै पूर्तं च अश्नाति) अपने घरके इष्ट और पूर्तको हि खाजाता है ॥ जो अतिथिके भोजन करनेके पूर्व भोजन करता है वह मानो घरके (पयः च रसं च) दूध और रसको (ऊर्जां

कीर्तिं च वा एष यशश्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ ५ ॥ ३५ ॥
श्रियं च वा एष संविदं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ ६ ॥ ३६ ॥
एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात् ॥ ७ ॥ ३७ ॥
अशितावत्यतिथावश्नीयाद् यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्याविच्छेदाय तद् व्रतम् ॥८॥३८॥
एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात् ॥९॥३९॥ (१७)
[४] स य एवं विद्वान् क्षीरमुपसिच्योपहरति ॥ १ ॥
यावदग्निष्टोमेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ॥ २ ॥ ४० ॥

च स्फातिं च) अन्न और समृद्धिको, (प्रजां च पशून् च) प्रजा और पशुको,(कीर्तिं च यशः च) कीर्ति और यशको, (श्रियं च संविदं च) श्री और संज्ञान को (अश्नाति) खाजाता है ॥ १–६ ॥ ३१–३६ ॥

(एष वै अतिथिः यत् श्रोत्रियः) यह अतिथि निश्चयसे श्रोत्रिय है (तस्मात् पूर्वः न अश्नीयात्) इसलिये उससे पूर्व स्वयं भोजन करना उचित नहीं है ॥ ७ ॥ ३७ ॥

(अतिथौ अशितावति अश्नीयात्) अतिथिके भोजन करनेके पश्चात् गृहस्थ स्वयं भोजन करे। (यज्ञस्य सात्मत्वाय) यज्ञकी सांगता के लिये (यज्ञस्य अविच्छेदाय) यज्ञका भंग न होनेके लिये (तत् व्रतं) यह व्रत पालन करना गृहस्थीको योग्य है ॥ ८ ॥ ३८ ॥

(एतत् वै उ स्वादीयः) वह जो स्वादयुक्त है (यत् अधिगवं क्षीरं वा मांसं वा) जो गौसे प्राप्त होनेवाले दूध या अन्य मांसादि पदार्थ हैं (तत् एव न अश्नीयात्) उसमें से कोई पदार्थ अतिथिके पूर्व भी न खावे ॥ ९ ॥ ३९ ॥

भावार्थ—अतिथिका भोजन पहिले होवे, पश्चात् जो अवशिष्ट बचा हो वह घरके मनुष्य खावें। कभी किसी अवस्थामें अतिथिके भोजन करनेके पूर्व घरका कोई मनुष्य भोजन न करे। ऐसा करनेसे गृहस्थयज्ञकी पूर्णता होती है। प्रत्येक गृहस्थ इस व्रतका पालन करे ॥१—९॥३१—३९॥

अर्थ— [४] (यः एवं विद्वान्) जो इस बातको जानता हुआ अतिथिके लिये (क्षीरं उपसिच्य उपहरति) दूध अच्छे पात्रमें रख कर ले जाता है, उसको (यावत् सुसमृद्धेन अग्निष्टोमेन इष्ट्वा अवरुन्धे) जितना

स य एवं विद्वान्त्सर्पिरुपसिच्योपहरति ॥ ३ ॥
यावदतिरात्रेणेष्ट्वा सुसंमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ॥ ४ ॥ ४१ ॥
स य एवं विद्वान् मधूपसिच्योपहरति ॥ ५ ॥
यावत् सत्रसद्येनेष्ट्वा सुसंमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ॥ ६ ॥ ४२ ॥
स य एवं विद्वान् मांसमुपसिच्योपहरति ॥ ७ ॥
यावत् द्वादशाहेनेष्ट्वा सुसंमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ॥ ८ ॥ ४३ ॥
स य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥ ९ ॥
प्रजानां प्रजननाय गच्छति प्रतिष्ठां प्रियः प्रजानां भवति य एवं
विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥ १० ॥ ४४ ॥ (१८)

उत्तम समृद्ध अग्निष्टोम यज्ञका यजन करनेसे फल मिलता है, (तावत् एतेन अवरुन्धे) उतना इससे मिलता है ॥ १-२ ॥ ४० ॥

(यः एवं विद्वान्) जो इस बातको जानता हुआ अतिथिके लिये (सर्पिः उपसिच्य उपहरति) घी बर्तन में रख कर ले जाता है उसको उतना फल मिलता है कि जितना किसीको उत्तम (सुसमृद्धेन अतिरात्रेण) समृद्ध अतिरात्र नामक यज्ञ करनेसे प्राप्त हो सकता है ॥ ३-४ ॥ ४१ ॥

जो इस बातको जानता हुआ मनुष्य अतिथिको देनेके लिये (मधु उपसिच्य उपहरति) मधु अर्थात् शहद उत्तम पात्रमें रख कर अतिथिके पास ले जाता है, उसको उतना फल मिलता है कि जितना किसीको (सुसमृद्धेन सत्रसद्येन इष्ट्वा) उत्तम समृद्ध सत्रसद्य नामक यज्ञके करने से मिलता है ॥ ५-६ ॥ ४२ ॥

जो इस बातको जानता हुआ (मांसं उपसिच्य) मांसको पात्रमें रख कर अतिथिके पास ले जाता है, उसको उतना फल मिलता है जितना उत्तम समृद्ध (द्वादशाहेन इष्ट्वा) द्वादशाह यज्ञके करनेसे किसीको प्राप्त हो सकता है ॥ ७-८ ॥ ४३ ॥

जो इस बातको जानता हुआ (उदकं उपसिच्य) जल उत्तम पात्रमें डालकर अतिथिके पास ले जाता है, वह (प्रजानां प्रजननाय प्रतिष्ठां गच्छति) प्रजाओंके प्रजनन अर्थात् उत्पत्तिके लिये स्थिरताको प्राप्त होता है और (प्रजानां प्रियः भवति) प्रजाओंके लिये प्रिय होता है॥ ९-१० ॥४४॥

[५] तस्मा॑ उ॒षा हिङ्कृ॑णोति सवि॒ता प्र स्तौ॑ति ॥ १ ॥
बृ॒हस्पति॑रू॒र्जयोद्गा॑यति॒ त्वष्टा॑ पु॒ष्ट्या प्रति॑ हरति॒ विश्वे॑ दे॒वा नि॒धन॑म् ॥ २ ॥
नि॒धनं॒ भूत्याः॑ प्र॒जायाः॑ पशू॒नां भ॑वति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ३ ॥ ४५ ॥
तस्मा॑ उ॒द्यन्त्सूर्यो॒ हिङ्कृ॑णोति सङ्ग॒वः प्र स्तौ॑ति ॥ ४ ॥
म॒ध्यंदि॑न उद्गा॑यत्यपरा॒ह्णः प्रति॑ हरत्यस्तं॒ यन्नि॒धन॑म् ।
नि॒धनं॒ भूत्याः॑ प्र॒जायाः॑ पशू॒नां भ॑वति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ५ ॥ ४६ ॥
तस्मा॑ अ॒भ्रो भव॒न् हिङ्कृ॑णोति स्त॒नय॒न् प्र स्तौ॑ति ॥ ६ ॥

भावार्थ— जो गृहस्थी उत्तम श्रद्धासे दुग्धादि पदार्थ उत्तम स्वच्छ पात्रमें रख कर अतिथिको समर्पण करनेकी बुद्धि से उसके पास ले जाता है, उसको बडे बडे यज्ञ यथासांग करनेका फल प्राप्त होता है ॥१-१०॥४०-४४॥

अर्थ—[५] (यः एवं वेद) जो इस अतिथिसत्कारके व्रतको जानता है (तस्मै) उस मनुष्यके लिये (उषा हिंकृणोति) उषा आनन्द-सन्देश देती है, (सविता प्र स्तौति) सूर्य विशेष प्रशंसा करता है, (बृहस्पतिः ऊर्जया उद्गायति) बृहस्पति बल के साथ उसके गुणोंका गान करता है, (त्वष्टा पुष्ट्या प्रतिहरति) त्वष्टा उसको पुष्टि प्रदान करता है, (विश्वे-देवाः निधनं) सब अन्य देव उसको आश्रय प्रदान करते हैं । अतः वह (भूत्याः प्रजायाः पशूनां निधनं भवति) संपत्ति, प्रजा और पशुओंका आश्रयस्थान बनता है ॥ १-३ ॥ ४५ ॥

जो इस अतिथि सत्कारके व्रतको जानता है, (तस्मै उद्यन् सूर्यः हिंकृणोति) उसके लिये उदय होता हुआ सूर्य आनन्दका सन्देश देता है, (संगवः प्र स्तौति) प्रभात समय प्रशंसा करता है, (मध्यंदिनः उद्गायति) मध्यदिन उसका गुण गान करता है, (अपराह्णः प्रति हरति) अपराह्ण समय पुष्टि देता है, (अस्तं यत् निधनं) अस्त जाता हुआ सूर्य आश्रय देता है । इस प्रकार वह संपत्ति, प्रजा और पशुओंका आश्रयस्थान होता है ॥ ४—५ ॥ ४६ ॥

जो इस अतिथिसत्कारके व्रत को जानता है, (तस्मै अभ्रः भवन् हिंकृणोति) उसके लिये उत्पन्न होनेवाला मेघ आनन्द सन्देश देता है, (स्तनयन् प्रस्तौति) गर्जना करनेवाला मेघ प्रशंसा करता है, (विद्योत-

विद्योतमानः प्रति हरति वर्षन्नुद्गायत्युद्गृह्णन् निधनम् ।
निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥ ४७ ॥
अतिथीन् प्रति पश्यति हिङ्कृणोत्यभि वदति प्र स्तौत्युदकं याचत्युद्गायति ॥८॥
उप हरति प्रति हरत्युच्छिष्टं निधनम् ॥ ९ ॥
निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ १० ॥ ४८ ॥ (१९)
[६]यत् क्षत्तारं ह्वयत्या श्रावयत्येव तत् ॥ १ ॥ ४९ ॥
यत् प्रतिशृणोति प्रत्याश्रावयत्येव तत् ॥ २ ॥ ५० ॥
यत् परिवेष्टारः पात्रहस्ताः पूर्वे चापरे च प्रपद्यन्ते चमसाध्वर्यव एव ते ॥३॥५१॥

मानः प्रतिहरति) प्रकाशनेवाला पुष्टि देता है, (वर्षन् उद्गायति) वृष्टि करता हुआ मेघ इसका गुणगान करता है (उद्गृह्णन् निधनं) ऊपर लेने वाला आश्रय देता है। इस प्रकार यह संपत्ति, प्रजा और पशुओंका आश्रयस्थान होता है ॥ ६-७ ॥ ४७ ॥

जो इस अतिथिसत्कारके व्रतको जानता है वह जब (अतिथीन् पश्यति) अतिथियोंका दर्शन करता है तो मानो वह (हिंकृणोति) आनन्दका शब्द करता है, जब वह अतिथियोंको (अभिवदति) नमस्कार करता है, तो वह कृत्य उसके (प्रस्तौति) प्रस्ताव करनेके समान होता है। जब वह (उदकं याचति) जल मांगता है तो मानो वह (उद्गायति) यज्ञके उद्गाताका कार्य करता है। (उप हरति प्रति हरति) जब वह पदार्थ अतिथिके पास लाता है, तो वह यज्ञके प्रतिहर्ताका कार्य करता है। (उच्छिष्टं निधनं) जो अन्नादिक अतिथिके भोजन करनेके पश्चात् अवशिष्ट रहता है उसको यज्ञका अन्तिम प्रसाद समझो। इस प्रकार अतिथिसत्कार करनेवाला संपत्ति, प्रजा और पशुओंका आश्रयस्थान बनता है ॥८-१०॥४८॥

भावार्थ— हिंकार, प्रस्ताव, उद्गान, प्रतिहार और निधन ये पांच अंग सामके हैं। अतिथिसत्कार करनेवालेको ये पांचों इस प्रकार सिद्ध होते हैं। अर्थात् अतिथिसत्कार एक श्रेष्ठ यज्ञका पूर्ण साम है। अतिथिसत्कार हि गृहस्थीका परम पवित्र और श्रेष्ठ कर्म है ॥८-१०॥४८॥

अर्थ—[६]—(यत् क्षत्तारं ह्वयति) जब वह द्वारपालकको बुलाता है, मानो (तत् आश्रावयति एव) वह अभिश्रवण करता है ॥ (यत्

तेषां न कश्चनाहोता ॥ ४ ॥ ५२ ॥
यद् वा अतिथिपतिरतिथीन् परिविष्य गृहानुपोदैत्यवभृथमेव तदुपावैति ॥५॥५३॥
यत् संभागयति दक्षिणाः सभागयति यदनुतिष्ठत उदवस्यत्येव तत् ॥ ६ ॥ ५४ ॥
स उपहूतः पृथिव्यां भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यत् पृथिव्यां विश्वरूपम् ॥७॥५५॥
स उपहूतोन्तरिक्षे भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यदन्तरिक्षे विश्वरूपम् ॥ ८ ॥ ५६ ॥
स उपहूतो दिवि भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यद् दिवि विश्वरूपम् ॥ ९ ॥ ५७ ॥
स उपहूतो देवेषु भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यद् देवेषु विश्वरूपम् ॥ १० ॥ ५८ ॥
स उपहूतो लोकेषु भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यल्लोकेषु विश्वरूपम् ॥ ११ ॥ ५९ ॥

प्रतिशृणोति) जब वह सुनता है, मानो (तत् प्रत्याश्रावयति एव) वह प्रत्याश्रवणहि है। जब अतिथिके लिये (पूर्वे च अपरे च परिवेष्टारः पात्रहस्ताः प्रपद्यन्ते) पहिले और बाद के परोसनेवाले सेवक पात्र हाथोंमें लेकर उसके पास आते हैं, मानो (ते चमसाध्वर्यव एव) यज्ञके चमसाध्वर्यु हैं ॥ (तेषां न कश्चन अहोता) उनमें कोई भी अयाजक नहीं होता है ॥ १-४ ॥ ४९-५२ ॥

(यत् वै अतिथिपतिः अतिथीन् परिविष्य) जो तो गृहस्थी अतिथियोंको भोजन देकर (गृहान् उप उदैति) अपने घरके प्रति जाता है, मानो (तत् अवभृथं एव उप अवैति) वह अवभृथ स्नान के लिये हि जाता है। (यत् सभागयति) जो भेट करता है, मानो वह (दक्षिणाः सभागयति) दक्षिणा प्रदान करता है। (यत अनुतिष्ठते) जो उसके लिये अनुष्ठान करता है मानो (तत् उदवसति एव) वह यज्ञ यथासांग करता है ॥ ५—६ ॥ ५३—५४ ॥

(सः पृथिव्यां उपहूतः) वह इस पृथ्वीपर किसी देशमें आदरसे बुलाया अतिथि (यत् पृथिव्यां विश्वरूपं) जो कुछ इस पृथ्वीपर अनेक रंगरूपवाला अन्न है (तस्मिन् उपहूतः भक्षयति) उसको वहां निमंत्रित होकर खाता हैं। वह आदरसे बुलाया हुआ अतिथि (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें (दिवि) द्युलोकमें, (देवेषु) देवताओंमें और (लोकेषु) सब लोकोंमें जो (विश्वरूपं) अनेक रंगरूपालाला अन्न होता है उसको वहां बैठा हुआ (भक्षयति) भक्षण करता है ॥ ७-११ ॥ ५५-५९ ॥

स उपहूत उपहूतः ॥ १२ ॥ ६० ॥

आप्नोतीमं लोकमाप्नोत्यमुम् ॥ १३ ॥ ६१ ॥

ज्योतिष्मतो लोकान् जयति य एवं वेद ॥ १४ ॥ ६२ ॥ (२०)

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

(सः उपहूतः) वह आदरसे निमंत्रित किया हुआ अतिथि बहुत लाभ देता है ॥ अतिथिको आदरके साथ बुलानेवाला गृहस्थी (इमं लोकं आप्नोति) इस लोकको प्राप्त करता है और (अमुं आप्नोति) उस लोक-कोभी प्राप्त करता है ॥ (यः एवं वेद) जो इस अतिथिसत्कार के व्रतको जानता है वह (ज्योतिष्मतः लोकान् जयति) तेजस्वी लोकोंको प्राप्त करता है ॥ १२–१४ ॥ ६०–६२ ॥

अतिथिका आदर ।

अतिथिका आदरसत्कार प्रेमके साथ करनेका उपदेश करनेके लिये ये ६२ मंत्र इस सूक्तके छः पर्यायों में दिये हैं । ये मंत्र सरल होनेसे इनकी व्याख्या विशेष करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । अतिथिसत्कारसे विविध प्रकार के यज्ञ यथासांग करनेका फल प्राप्त होता है अर्थात् जो अतिथिसत्कार उत्तम श्रद्धासे करेगा, उसको अन्यान्य यज्ञयाग करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । गृहस्थ–धर्मका यह प्रधान अंग अतिथि-सत्कार है । पाठक इस सूक्तका पाठ करें और इसके इस आशयको जानें और अतिथि-सत्कार करके उसके श्रेष्ठ फलके भागी बनें ॥

इन मंत्रोंमें 'मांस' शब्द आया है । इस मांस शब्दके अन्य अर्थ भी होते होंगे, परंतु यहां 'मांस' अर्थ अपेक्षित है ऐसा हमारा मत है और यह लेनेपर भी कोई आपत्ति नहीं है । क्योंकि मांस भोजी मनुष्य के घरमें कोई अतिथि आवे, तो अतिथिके पूर्व वह मांस भी न खावे, इत्यादि भाव यहां लेना योग्य है । वेदमें जैसा निर्मांस भोजी मनुष्योंका वर्णन है वैसा मांस भोजियोंका भी वर्णन है ।

गौका विश्वरूप।

[७]

(ऋषिः- ब्रह्मा । देवता-गौः)

[१२](७) प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे इन्द्रः शिरो
अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम् ॥ १ ॥
सोमो राजा मस्तिष्को द्यौरुत्तरहनुः पृथिव्यधरहनुः ॥ २ ॥
विद्युज्जिह्वा मरुतो दन्ता रेवतीर्ग्रीवाः कृत्तिका स्कन्धा घर्मो वहः ॥ ३ ॥
विश्वं वायुः स्वर्गो लोकः कृष्णद्रं विधरणी निवेष्यः ॥ ४ ॥
श्येनः क्रोडोऽन्तरिक्षं पाजस्यं बृहस्पतिः ककुद् बृहतीः कीकसाः ॥ ५ ॥
देवानां पत्नीः पृष्टय उपसदः पर्शवः ॥ ६ ॥

अर्थ— (प्रजापतिः च परमेष्ठी च शृंगे) प्रजापति और परमेष्ठी ये गौके दो सींग हैं, (इन्द्रः शिरः) इन्द्र सिर है, (अग्निः ललाटं) अग्नि ललाट है, (यमः कृकाटं) यम गलेकी घेंटी है॥ (सोमः राजा मस्तिष्कः) राजा सोम मस्तिष्क है, (द्यौः उत्तराः हनुः) द्युलोक उपरका जबडा और (पृथ्वी अधरहनुः) पृथ्वी नीचेका जबडा है ॥ १-२ ॥

(विद्युत् जिह्वा) बिजली जीभ है, (मरुतः दन्ताः) मरुत दान्त हैं (रेवतीः ग्रीवा, कृत्तिका स्कन्धाः) रेवती गर्दन और कृत्तिका कन्धे हैं। (घर्मः वहः) उष्णता देनेवाला सूर्य वहनेका ककुद्के पासका भाग है॥ (वायुः विश्वं स्वर्गः लोकः कृष्णद्रं) वायु सब अवयव और स्वर्गलोक कृष्णद्र है और (विधरणी निवेष्यः) धारक शक्ति पृष्ठवंशकी सीमा है ॥ ३—४ ॥

(श्येनः क्रोडः) श्येन उसकी गोद है, (अन्तरिक्षं पाजस्यं) अन्तरिक्ष पेट है, (बृहस्पतिः ककुद्) बृहस्पति ककुद् है, (बृहतीः कीकसाः) बृहस्पति कोहनका भाग है॥ (देवानां पत्नीः पृष्टयः) देवोंकी पत्नियां पीठ के भाग हैं, (उपसदः पर्शवः) उपसद् हड्डियां पसुलियां हैं ॥ ५-६ ॥

मित्रश्च वरुणश्चांसौ त्वष्टा चार्यमा च दोषणी महादेवो बाहू ॥ ७ ॥
इन्द्राणी भसद् वायुः पुच्छं पवमानो बालाः ॥ ८ ॥
ब्रह्म च क्षत्रं च श्रोणी बलमूरू ॥ ९ ॥
धाता च सविता चाष्ठीवन्तौ जङ्घा गन्धर्वा अप्सरसः कुष्ठिका अदिति शफाः ॥१०॥
चेतो हृदयं यकृन्मेधा व्रतं पुरीतत् ॥ ११ ॥
क्षुत् कुक्षिरिरा वनिष्ठुः पर्वताः प्लाशयः ॥ १२ ॥
क्रोधो वृक्कौ मन्युराण्डौ प्रजा शेपः ॥ १३ ॥
नदी सूत्री वर्षस्य पतय स्तना स्तनयित्नुरूधः ॥ १४ ॥
विश्वव्यचाश्चर्मौषधयो लोमानि नक्षत्राणि रूपम् ॥ १५ ॥

अर्थ-(मित्रः च वरुणः च अंसौ) मित्र और वरुण कंधे हैं, (त्वष्टा च अर्यमा च दोषणी) त्वष्टा और अर्यमा बाहुभाग हैं, और (महादेवः बाहू) महादेव बाहु हैं ॥ (इन्द्राणी भसत्) इन्द्रपत्नी गुह्यभाग है, (वायुः पुच्छं) वायु पुच्छ है और (पवमानः बालाः) पवमान वायु बाल हैं ॥ ७—८ ॥

(ब्रह्म च क्षत्रं च श्रोणी) ब्राह्मण और क्षत्रिय चूतर हैं, (बलं ऊरू) बल जांघें हैं ॥ (धाता च सविता च अष्ठीवन्तौ) धाता और सविता ये टखने हैं, (गन्धर्वाः जङ्घाः) गन्धर्व जांघें हैं (अप्सरसः कुष्ठिकाः) अप्सराएं खुरभाग हैं, (अदितिः शफाः) अदिति खुर हैं ॥ (चेतः हृदयं) चेतना उसका हृदय है (मेधा यकृत्) मेधाबुद्धि यकृत् है, (व्रतं पुरी ततं) व्रत उसकी आंतें हैं ॥ ९—११ ॥

(क्षुत् कुक्षिः) क्षुधा कोख है, (इरा वनिष्ठुः) अन्न बडी आंत है, (पर्वताः प्लाशयः) पहाड छोटी आंतें हैं ॥ (क्रोधः वृक्कौ) क्रोध उसके गुर्दे हैं, (मन्युः आण्डौ) उत्साह अण्डकोश है, (प्रजाः शेपः) प्रजा जननेंद्रिय है ॥ १२–१३ ॥

(नदी सूत्री) नदी सूत्रनाडी है, (वर्षस्य पतयः स्तनाः) वर्षापति मेघ उसके स्तन हैं, (स्तनयित्नु ऊधः) गर्जनेवाला मेघ दूधसे पूर्ण स्तन हैं ॥ (विश्वव्यचा चर्म) सर्वत्र फैला आकाश चर्म है, (ओषधयः लोमानि) औषधियां लोम हैं, (नक्षत्राणि रूपं) नक्षत्र रूप है ॥ १४–१५ ॥

देवजना गुदा मनुष्या आन्त्राण्यत्रा उदरम् ॥ १६ ॥
रक्षांसि लोहितमितरजना ऊबध्यम् ॥ १७ ॥
अभ्रं पीवो मज्जा निधनम् ॥ १८ ॥
अग्निरासीन उत्थितोऽश्विना ॥ १९ ॥
इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन् दक्षिणा तिष्ठन् यमः ॥ २० ॥
प्रत्यङ् तिष्ठन् धातोदङ् तिष्ठन्त्सविता ॥ २१ ॥
तृणानि प्राप्तः सोमो राजा ॥ २२ ॥
मित्र ईक्षमाण आवृत्त आनन्दः ॥ २३ ॥
युज्यमानो वैश्वदेवो युक्तः प्रजापतिर्विमुक्तः सर्वम् ॥ २४ ॥
एतद् वै विश्वरूपम् सर्वरूपम् गोरूपम् ॥ २५ ॥
उपैनं विश्वरूपाः सर्वरूपाः पशवस्तिष्ठन्ति य एवं वेद ॥ २६ ॥ (२१)

अर्थ-(देवजनाः गुदा) देवजन गुदा हैं, (मनुष्याः आन्त्राणि) मनुष्य आंतें हैं, (अत्रा ऊदरं) भक्षक प्राणी उदर है ॥ (रक्षांसि लोहितं) राक्षस रक्त है, (इतरजना ऊबध्यं) इतर जन अपाचित अन्न है ॥ (अभ्रं पीवः) मेघ मेदा है (निधनं मज्जा) निधन मज्जा है ॥ (अग्निः आसीनः) अग्नि आसन है और (अश्विनौ उत्थितः) अश्विदेव उत्थान है ॥ १६-१९ ॥

(इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन्) इन्द्र प्राची दिशामें ठहरना है, (यमः दक्षिणा तिष्ठन्) यम दक्षिणादिशामें अवस्थान है, (प्रत्यङ् तिष्ठन् धाता) पश्चिम दिशामें ठहरना धाता है और (सविता उदङ् तिष्ठन्) सविता उत्तर दिशामें ठहरना है ॥ २०—२१ ॥

(सोमः राजा तृणानि प्राप्तः) जब तृणको प्राप्त होता है तब वह सोम राजा होता है, (ईक्षमाणः मित्रः) अवलोकन करनेवाला सूर्य और (आवृत्तः आनन्दः) परावृत्त होनेपर वही आनंद है ॥ (युज्यमानः वैश्वदेवः) जब जोता जाता है तब वह सब देवोंके संबंधका होता है, (युक्तः प्रजापतिः) जोतनेपर प्रजापति और (विमुक्तः सर्वं) छोडनेपर सब कुछ बनता है ॥ २२-२४ ॥

(एतद् वै गोरूपं) यह निःसन्देह गौका रूप है, यही (विश्वरूपं सर्वरूपं) गौका विश्वरूप और सर्वरूप है ॥ (यः एवं वेद) जो इस बातको

जानता है (एनं) उसके पास (विश्वरूपाः सर्वरूपाः पशवः उपतिष्ठन्ति) विश्वरूपी और सर्वरूपी सब पशु रहते हैं ॥ २५—२६ ॥

गौका महात्म्य ।

इस सूक्त में गौका महत्त्व वर्णन किया है। यहां गौ शब्दसे गाय और बैलका ग्रहण करना चाहिये यह स्पष्ट है। गायके अंगोंमें संपूर्ण देवताओंका निवास है और गायही सब देवोंके रूप बन जाती है। इतना गायका अधिकार इस सूक्तने वर्णन किया है। वैदिक धर्ममें गायका इतना महत्त्व है। गायका दूध, दही, मक्खन, घी, छाछ आदि सेवन करनेसे देवताओंका सत्त्व सेवन करनेका श्रेय प्राप्त होता है। इसी प्रकार गोमूत्र और गोमय सेवन करनेसे शरीर शुद्ध होता है। इस तरह गाय का महत्त्व जान कर वैदिक धर्मी लोग गायकी सेवा करें।

यक्ष्म—निवारण ।

[८]

(ऋषिः— भृग्वंगिराः । देवता-सर्वशीर्षामयाद्यपाकरणम्)

[१३] (८) शीर्षक्तिं शीर्षामयं कर्णशूलं विलोहितम् ।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ १ ॥
कर्णाभ्यां ते कङ्कूषेभ्यः कर्णशूलं विसल्पकम् ।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ २ ॥

अर्थ— (शीर्षक्तिं) मस्तकशूल, (शीर्षामयं) सिरदर्द (कर्णशूलं) कर्णशूल, (विलोहितं) रक्तरहित होना, अथवा पाण्डुरोग, (ते सर्वं शीर्षण्यं रोगं) तेरा सब मस्तक विकार (बहिः निर्मन्त्रयामहे) बाहर करते हैं ॥ १ ॥

(ते कर्णाभ्यां) तेरे कानोंसे, और (कंकूषेभ्यः) कानोंके भीतरी भागोंसे (विसल्पकं कर्णशूलं) विशेष कष्ट देनेवाले कर्णशूलको तथा (सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं) तेरा सब मस्तकका रोग हम (बहिः निर्मन्त्रयामहे) बाहर करते हैं ॥ २ ॥

ह॒रि॒माणं॑ ते अङ्गे॑भ्यो॒ऽप्वाम॑न्त॒रोद॒रात् ।
यक्ष्मो॒धाम॒न्तरा॒त्मनो॑ ब॒हिर्निर्मं॑न्त्रयामहे ॥ ९ ॥
आसो॑ ब॒लासो॑ भव॑तु मूत्रं॑ भवत्वा॒मय॑त् ।
यक्ष्मा॑णां॒ सर्वे॑षां वि॒षं निर॑वोचम॒हं त्वत् ॥ १० ॥ (२२)
ब॒हिर्बिलं॒ निर्द्र॑वतु॒ काहा॑बाहं॒ त॒वोद॒रात् ।
यक्ष्मा॑णां॒ सर्वे॑षां वि॒षं निर॑वोचम॒हं त्वत् ॥ ११ ॥
उ॒दरा॑त् ते क्लो॒म्नो नाभ्या॑ हृ॒दया॒दधि॑ ।
यक्ष्मा॑णां॒ सर्वे॑षां वि॒षं निर॑वोचम॒हं त्वत् ॥ १२ ॥
याः सी॒मानं॑ विरु॒जन्ति॑ मू॒र्धानं॒ प्रत्य॑र्ष॒णीः ।
अहिं॑सन्तीरनाम॒या निर्द्र॑वन्तु ब॒हिर्बिल॑म् ॥ १३ ॥

अर्थ-(यदि कामात्) यदि कामुकतासे अथवा यदि (अ कामात) कामको छोडकर किसी अन्य कारणोंसे (हृदयात परि जायते) हृदयके ऊपर उत्पन्न होता है, तो उस (बलासं हृदः अंगेभ्यः) कफको हृदयसे और अंगोंसे (बहि०) बाहर हम हटा देते हैं ॥ ८ ॥

(ते हरिमाणं) तेरा कामिला रोग— रक्तहीनताका रोग- (अंगेभ्यः) तेरे अवयवोंसे, (उदरात् अन्तः आप्वां) उदरके अन्दरसे जलोदर रोग को तथा (आत्मनः अन्तः यक्ष्मः-धां) अपने अन्दरसे यक्ष्मरोगको धारण करनेवाली अवस्था को (बहि०) बाहर हम निकालते हैं ॥ ९ ॥

(बलासः आसः भवतु) कफ थूंकके रूपमें होवे और बाहर जावे। (आमयत् मूत्रं भवतु) आमदोष मूत्र होकर बाहर जावे। (सर्वेषां यक्ष्माणां विषं) सब यक्ष्मरोगोंका विष (अहं त्वत् निरवोचं) मैं तेरेसे बाहर निकालता हूं ॥ १० ॥

(तव उदरात) तेरे पेटसे (काहाबाहं बिलं) शब्द करते हुए विष मूत्र-नलिकासे (निर्द्रवतु) निकल जावे। (सर्वेषां यक्ष्माणां०) सब रोगोंका विष मैं तेरेसे बाहर निकालता हूं ॥ ११ ॥

(ते उदरात) तेरे पेटसे (क्लोम्नः नाभ्याः हृदयात अधि) फेफडोंसे, नाभीसे और हृदयसे (सर्वेषां०) सब रोगोंका विष मैं तेरेसे हटाता हूं ॥ १२ ॥

या हृदयमुपर्पन्त्यनुतन्वन्ति कीकसाः ।
अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १४ ॥
याः पार्श्वे उपर्पन्त्यनुनिक्षन्ति पृष्टीः ।
अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १५ ॥
यास्तिरश्चीरुपर्पन्त्यर्षणीर्वक्षणासु ते ।
अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १६ ॥
या गुदा अनुसर्पन्त्यान्त्राणि मोहयन्ति च ।
अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १७ ॥

अर्थ-(याः सीमानं विरुजन्ति) जो सीमा भागको पीडा देते हैं, और जो (मूर्धानं प्रति अर्षणीः) सिरतक बढते जाते हैं, वे रोग (अनामयाः अहिंसन्तीः) दोषरहित होकर न मारते हुए (बहिः बिलं निर्द्रवन्तु) द्रवरूपसे रन्ध्रोंके बीचसे बाहर चले जावें ॥ १३ ॥

(याः हृदयं उप ऋषन्ति) जो हृदयपर आक्रमण करती हैं और (कीकसाः अनुतन्वन्ति) हंसली की हड्डियोंमें फैलती हैं वे सब पीडाएं (अनामया०) दोषरहित होकर मारक न बनती हुई सब रन्ध्रोंसे द्रवरूपसे दूर हो जांय ॥ १४ ॥

(याः पार्श्वे उप ऋषन्ति) जो पृष्ठभागपर आक्रमण करती हैं और (पृष्टीः अनुनिक्षन्ति) पीठपर जो फैलती हैं, वे सब पीडाएं (अना०) दोषरहित होकर और मारक न बनती हुई सब रन्ध्रोंसे द्रवरूप होकर दूर हो जांय ॥ १५ ॥

(याः तिरश्चीः उप ऋषन्ति) जो तिरच्छी होकर आक्रमण करती हैं, और (ते वक्षणासु अर्षणीः) तेरी पसुलियोंमें प्रवेश करती हैं वे (अना०) सब दोषरहित और अमारक होकर द्रवरूपसे रोमरन्ध्रोंके द्वारा शरीरके बाहर चले जावे ॥ १६ ॥

(याः गुदाः अनुसर्पन्ति) जो गुदातक फैलती हैं, और (आन्त्राणि मोहयन्ति च) आंतोंको रोकती हैं वे सब पीडाएं (अना०) दोषरहित और अमारक होकर द्रवरूपसे शरीरके रोमरन्ध्रोंसे बाहर चली जावें ॥ १७ ॥

या मुज्ज्ञो निर्धयन्ति परूंषि विरुजन्ति च ।
अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १८ ॥
ये अङ्गानि मदयन्ति यक्ष्मासो रोपणास्तव ।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ १९ ॥
विसल्पस्य विद्रधस्य वातीकारस्य वालजेः ।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ २० ॥
पादाभ्यां ते जानुभ्यां श्रोणिभ्यां परि भंससः ।
अनूकादर्षणीरुष्णिहाभ्यः शीर्ष्णो रोगमनीनशम् ॥ २१ ॥
सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च यो विधुः ।
उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोऽङ्गभेदमशीशमः ॥२२॥ (२३)
॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अर्थ-(याः मज्ज्ञः निर्धयन्ति) जो मज्जाओंको रक्तहीन करती हैं, और (परूंषि विरुजन्ति च) जोडोंमें वेदना उत्पन्न करती हैं, वे सब रोग (अना०) दोषरहित और अमारक होकर रन्ध्रोंसे बाहर द्रवरूप होकर निकल जावें ॥ १८ ॥

(ये यक्ष्मासः) जो यक्ष्मरोग (रोपणाः) व्याकुल करते हुए (तव अंगानि मदयन्ति) तेरे अंगोंको मदयुक्त करते हैं उन (सर्वेषां यक्ष्माणां विषं) सब यक्ष्मरोगोंका विष (अहं त्वत् निरवोचं) मैं तेरेसे हटाता हूं ॥ १९ ॥

(विसल्पस्य) पीडा, (विद्रधस्य) सूजन, (वातीकारस्य) वातरोग और (वा अलजेः) रोग इन सबके तथा (सर्वेषां यक्ष्मणां विषं०) संपूर्ण रोगोंके विषको मैं तेरेसे हटाता हूं ॥ २० ॥

(पादाभ्यां ते जानुभ्यां) तेरे पांवोंसे और जानुओंसे, (श्रोणिभ्यां भंससः परि) कूल्होंसे और गुप्तभागसे (अनूकात् उष्णिहाभ्यः) रीढसे और गुदेकी नाडियोंसे (अर्षणीः) फैलनेवाली पीडाओंको और (शीर्ष्णः रोगं) सिरकी पीडाको मैं (अनीनशम्) नाश करता हूं ॥ २१ ॥

(ते शीर्ष्णः कपालानि) तेरे सिरके कपालभाग, (हृदयस्य च यः विधुः) और हृदय की जो व्याधि है, (उद्यन् आदित्यः रश्मिभिः)

उगता हुआ सूर्य अपनी किरणोंसे (शीर्ष्णः रोगं सं अनीनशः) सिरके रोगको नाश करता है और (अंगभेदं अशीशमः) अंगोंकी पीडाको शांत करता है ॥ २२ ॥

सिरदर्द ।

इस सूक्तमें सिरदर्द को हटानेके लिये सूर्यकिरण यह एक उपाय है, यह बात कही है। सूर्यकिरण शरीरपर लेनेसे सिरका रोग, कर्णके रोग, पाण्डुरोग तथा अन्यान्य कई रोग दूर होते हैं। संभव है कि ये सूर्य किरण विशेष प्रबंधसे उस रोगग्रस्त स्थानपरभी लेने योग्य होंगे। इस सूक्तमें यह चिकित्साकी विधि तो बतायी नहीं है, परंतु इतना कहा है कि सूर्यकिरणसे इस सूक्तमें कहे अनेक रोग दूर होते हैं।

कई सिरके रोग दृष्टीको मन्द करते हैं, अंधा बनाते हैं, बहिरा बनाते हैं, रक्त कम होनेसे कई सिरके रोग होते हैं, कानोंके दोषसे और आंखोंके दोषसे भी सिरकी पीडा होती है, कानसे और मुखसे पीप आदी बाहर निकलता रहता है जिससे सिरदर्द होता है, इस प्रकार अनेक लक्षण और हेतु सिरदर्दके इस सूक्तमें दिये हैं। इन सबका विचार वैद्य और डाक्तर करें और सूर्यकिरणोंका उपाय इन सबपर किस प्रकार करना चाहिये इसका भी निश्चय करें।

अथवा कोई अन्य उपाय यहां लक्षणासे बताया है, इसकाभी निश्चय होना उचित है। यह सूक्त वस्तुतः अति सुबोध है, तथापि सिरदर्दका विषय अति शास्त्रीय होनेसे इस सूक्तके कई शब्द वैद्य और डाक्तरहि जान सकते हैं। इस लिये ऐसे सूक्तोंका अन्वेषण करना उनकाहि कार्य है ऐसी सूचना हम यहां करते हैं।

एक वृक्षपर दो सुपर्ण।

[९]

(ऋषिः— ब्रह्मा। देवता-वामः, अध्यात्मं, आदित्यः,)

[१४] (९) अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥ १ ॥
सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥ २ ॥

अर्थ— (तस्य अस्य वामस्य पलितस्य) उस इस सुंदर अति वृद्ध (होतुः) दान कर्ताका (मध्यमः भ्राता) बीच का भाई (अश्नः अस्ति) बडा खानेवाला है। (अस्य तृतीयः भ्राता) इसका तीसरा भाई अपने (घृतपृष्ठः) पृष्ठभागपर पुष्टिकारक घी रखता है। (अत्र) यहीं मैंने (सप्तपुत्रं विश्पतिं अपश्यं) सात पुत्रोंवाले प्रजापालक को देखा है ॥ १ ॥ (ऋ. १। १६४। १)

(एकचक्रं रथं सप्त युंजन्ति) एक चक्रवाले रथको सात घोडे जोते जाते हैं, (सप्तनामा एकः अश्वः वहति) सात नामवाला एक घोडा उसको खींचता है। इसका (त्रिनाभि अजरं अनर्वं चक्रं) तीन केन्द्रोंवाला जरा-रहित और नाशरहित यह चक्र है (यत्र) जिसमें (इमा विश्वा भुवना) ये सब भुवन (अधि तस्थुः) ठहरे हैं ॥ २ ॥ (ऋ. १। १६४। २ अथर्व १३। ३। १८)

भावार्थ—इस अलौकिक सुंदर दाता पुराण पुरुष का बीचका भाई भोक्ता जीवात्मा है, और इसको एक तीसरा भाई भी है जो अपनी पीठपर घृतादि पोषक पदार्थ धारण करता है, यही संसार है। इसी स्थानपर सब प्रजाओंका पालनेहारा एक देव है, जिसको सात पुत्र हैं ॥ १ ॥

इस एकचक्रवाले रथको सात घोडे जोते हैं, परंतु वस्तुतः सात नामों-वाला एकहि घोडा इस रथको खींचता है। इसी तीन केन्द्रोंवाले जरा-रहित अविनाशी चक्रमें ये संपूर्ण भुवन रहे हैं ॥ २ ॥

इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः ।
सप्त स्वसारो अभि सं नवन्त यत्र गवां निहिता सप्त नाम ॥ ३ ॥
को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति ।
भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित् को विद्वांसमुप गात् प्रष्टुमेतत् ॥ ४ ॥
इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः ।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः ॥ ५ ॥

अर्थ- (इमं सप्तचक्रं रथं) इस सात चक्रोंवाले रथके ऊपर (ये सप्त अधि तस्थुः) जो सात रहते हैं, उसको (सप्त अश्वाः वहन्ति) सात घोडे खींचते हैं। (सप्त स्वसारः) सात बहिनें (अभि सं नवन्ते) जिसके साथ रहतीं हैं। (यत्र) और जहां (गवां सप्त नामा निहिता) गौओंके सात यश रहते हैं ॥ ३ ॥ (ऋ. १ । १६४ । ३)

(प्रथमं जायमानं) पहिले प्रकट होनेवालेको (कः ददर्श) किसने देखा है ? (यत् अनस्था अस्थन्वन्तं बिभर्ति) जो हड्डीरहित हड्डीवालेको धारण करता है। (भूम्याः असुः असृक् आत्मा क्व स्वित्) इस मिट्टीके अन्दर प्राण रक्त, और आत्मा कहां भला रहते हैं ? (कः विद्वांसं) कौन-सा मनुष्य किस ज्ञानीके पास (एतत् प्रष्टुं उपगात्) यह पूछनेके लिये गया ? ॥ ४ ॥ (ऋ० १ । १६४ । ४)

हे (अंग) प्रिय मनुष्य ! (यः अस्य वामस्य वेः) जो इस प्रिय सुपर्णके (निहित पदं वेद) रखे हुए पदको जानता है, वह आकर (इह ब्रवीतु) यहां कहे। (गावः अस्य शीर्ष्णः) गौवें, किरणें, इसके शिरोभागसे (क्षीरं दुह्रते) दूध, अमृत दुहती हैं, वे (वव्रिं वसानाः) रूपका धारण करती हुई (पदा उदकं अपुः) अपने पदसे जलका पान करती हैं ॥५॥ (ऋ०१।१६४।७)

भावार्थ— इस सातचक्रोंसे युक्त रथके ऊपर सात वीर खडे हैं, इस रथको सात घोडे खींच रहे हैं। इस रथपर सात बहिनें भी उनके साथ बैठीं हैं, जहां गौओंके साथ उनके सात यश भी विराजमान हैं ॥ ३ ॥

सबसे प्रथम प्रकट होनेके समय इस आत्माको किसने देखा है ? यहां तो हड्डिवाले शरीरको हड्डीरहित आत्मा धारण करता है। इस पार्थिव शरीरमें प्राण, रक्त और आत्मा-मन-कहां रहता है ? मनुष्य किस

पाकः पृच्छामि मनसाविजानन् देवानामेना निहिता पदानि।
वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ ॥ ६ ॥
अचिकित्वांश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मनो न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥ ७ ॥

अर्थ-(पाकः) परिपक्व होनेवाला और (मनसा अविजानन्)मनसे न जाननेवाला मैं (देवानां एना निहिता पदानि) देवताओंके ये रखे हुए पदोंके विषयमें (पृच्छामि) पूछता हूं। (कवयः) कवि लोगोंने (बष्कये वत्से अधि) बडे बछडेके ऊपर (ओतवै उ) बुननेके लिये (सप्त तन्तून् वि तत्निरे) सात तन्तुओंको फैलाया है ॥ ६ ॥ (ऋ० १।१६४।५)

(अचिकित्वान्, न विद्वान् चित्) अज्ञानी और विद्या न जाननेवाला मैं (चिकितुषः विद्मनः कवीन् चित्) ज्ञानी विद्वान् कवियोंसे हि (पृच्छामि) पूछता हूं। (यः इमाः षट् रजांसि तस्तंभ) जो इन छः लोकोंको आधार देता है, उस (अजस्य रूपे) अजन्माके रूपमें (किं अपि एकं स्वित्) एक कौनसा तत्त्व है ? ॥ ७ ॥ (ऋ० १ । १६४ । ६)

विद्वान को इसके विषयमें पूछने के लिये जाता है ? ॥ ४ ॥

हे प्रिय शिष्य ! जो इस परम रमणीय सुपर्ण-आत्माका परम पद यथावत् जानता है, वही इस विषयमें उपदेश करे। इसी आत्माके मुख्य भागसे संपूर्ण गौवोंमें अमृत जैसा दूध आता है, उन गौवोंमें जलपान करके लोगोंको सुंदर रूप और रस देनेका सामर्थ्य है ॥ ५ ॥

हे गुरुजी ! मैं परिपक्व नहीं हूं और मनसे भी कुछ जानता नहीं हूं। इस लिये आपसे देवोंके रखे हुए पदोंके विषयमें पूछता हूं। आप इस विषयमें कहिये। कवि लोग जो सात धागे वस्त्र बुनने के लिये बछडेके ऊपर फैलाते हैं, उसका क्या आशय है ? ॥ ६ ॥

मैं अज्ञानी और निर्बुद्धसा हूं, अतः आपजैसे ज्ञानी और सुबुद्धसे प्रश्न कर रहा हूं। जिसने ये छः लोक धारण किये हैं, उस अजन्मा आत्माका एक सत्य स्वरूप कौनसा है ? ॥ ७ ॥

माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे ।
सा बिभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः ॥ ८ ॥
युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद् गर्भो वृजनीष्वन्तः ।
अमीमेद् वत्सो अनु गामपश्यद् विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु ॥ ९ ॥

अर्थ-(माता पितरं ऋते अबभाज) माता बालकके पिताको अर्थात अपने पतिको सत्यधर्ममें भाग देती है। (अग्रे धीती) प्रारंभमें बुद्धिसे और (मनसा) मनसे वह (हि सं जग्मे) निश्चयपूर्वक संगति करती है। (सा बिभत्सुः गर्भरसा निविद्धा) वह भरण करनेवाली अपने बीच रस धारण करनेवाली विद्ध हुई है। जो (नमस्वन्तः इत् उपवाकं ईयुः) नमस्कार करनेवाले भक्त निश्चयसे उसकी प्रशंसा करते हैं ॥ ८ ॥ (ऋ० १ । १६४ । ८)

(दक्षिणायाः धुरि माता युक्ता आसीत्) दक्षिणाकी धुरामें माता जोती गई थी, तथा उसका (गर्भः वृजनीषु अन्तः अतिष्ठत) बछडा अपनी शक्तियोंमें था। (वत्सः गां अनु अमीमेत) बछडा गौको देखकर जाता है और (त्रिषु योजनेषु) तीनों योजनाओंमें (विश्वरूप्यं अपश्यत) संपूर्ण रूपोंको देखता है ॥ ९ ॥ (ऋ० १ । १६४ । ९)

भावार्थ-माता प्रकृति परमात्मारूपी पिताको सत्यधर्मका भाग समर्पण करती है,अर्थात सत्यधर्म उसीका है ऐसा दर्शाती है। सबसे पहिले बुद्धि, कर्म और विचारशक्तिका संगतीकरण होगया,जिससे इसकी रचना होगयी है। यह प्रकृति सबका पोषण करनेमें समर्थ है, उसीमें सब प्रकारके उत्तम पोषक रस हैं। जो भक्त नमस्कारपूर्वक इसकी भक्ति करते हैं, वे निश्चयपूर्वक इनकी प्रशंसा करने लगते हैं ॥ ८ ॥

माता इस यज्ञरूप रथमें प्रमुख स्थानमें जोती गई है। उसके गर्भका धारण अनेक शक्तियोंसे होता है। जब वह जन्मता है, तो गौके पीछे पीछे चलता है। और बढकर पूर्वोक्त तीन केन्द्रोंमें सब विश्वका रूप ठहरा है, इस बातको देखता है ॥ ९ ॥

तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमवं ग्लापयन्त ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदो वाचमविश्वविन्नाम् ॥१०॥ (२४)
पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा ।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न च्छिद्यते सनाभिः ॥ ११ ॥
पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणे सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् ॥ १२ ॥

अर्थ- (एकः तिस्रः मातॄः) अकेला तीन माताओंको और (त्रीन् पितॄन्) तीन पिताओंको (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (ऊर्ध्वः तस्थौ) सीधा खडा है। वे इसको (न ईं अव ग्लापयन्त) ग्लानीको प्राप्त नहीं होने देते। (अमुष्य दिवः पृष्ठे) उस द्युलोकके पीठपर विराजमान होकर (विश्वविदः) सर्वज्ञ लोग (अ-विश्व-विन्नां वाचं मन्त्रयन्ते) सब को न समझनेवाले गूढ वचनका मनन करते हैं ॥ १० ॥ (ऋ० १ । १६४ । १०)

(यस्मिन् परिवर्तमाने पञ्चारे चक्रे) जिस घूमते हुए पांच आरोंवाले चक्रमें (विश्वा भुवनानि आतस्थुः) सब भुवन ठहरे हैं। (तस्य भूरिभारः अक्षः न तप्यते) उस चक्रका बहुत भारवाला अक्षदण्ड नहीं तपता और (सनात् एव सनाभिः न छिद्यते) चिरकालसे केन्द्रस्थान होनेपर भी नहीं छिन्नभिन्न होता है ॥ ११ ॥ (ऋ० १ । १६४ । १३)

(पञ्चपादं द्वादशाकृतिं पितरं) पांच पांववाला बारह आकारवाला पिता (दिवः परे अर्धे पुरीषिणं आहुः) द्युलोकके परले आधे भागमें है ऐसा कहते हैं। (अथ इमे अन्ये आहुः) और ये दूसरे कहते हैं कि वह (उपरे विचक्षणे) अति विलक्षण (सप्तचक्रे षडरे अर्पितं) सातचक्रोंवाले और छः आरोंवाले चक्रमें रहा है ॥ १२ ॥ (ऋ० १ । १६४ । १२)

भावार्थ— अकेला एक अपनी तीनों माताओं और तीनों पिताओं का धारण करता हुआ सीधा खडा रहता है। इसको कोई ग्लानि नहीं उत्पन्न कर सकता। अन्तमें इसको इस बातका ज्ञान होता है कि द्युलोक के ऊपर सर्वज्ञ लोग गुप्त मंत्रोंका विचार करते हैं ॥ १० ॥

जिस घूमते हुए पांच आरोंवाले चक्रमें संपूर्ण भुवन ठहरे हैं, उसका बहुत भारवाला अक्षदण्ड सतत घूमता हुआ भी नहीं तपता और चिर-

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य ।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः ॥ १३ ॥

सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति ।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ १४ ॥

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः ।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत ॥ १५ ॥

अर्थ- (द्वादशारं तत् चक्रं) बारह आरोंवाला चक्र (नहि जराय) जीर्ण नहीं होता, वह (ऋतस्य द्यां परि वर्वर्ति) सत्य के द्युलोकके ऊपर घूमता है। हे (अग्ने) अग्ने ! (अत्र सप्त शतानि विंशतिः च) यहां सात सौ वीस (मिथुनासः पुत्राः आ तस्थुः) जुडे हुए पुत्र ठहरे हैं ॥ १३ (॥ ऋ० १ । १६४ । ११)

(सनेमि अजरं चक्रं) परिघवाला अविनाशी चक्र (वि-वावृते)विशेष रीतिसे घूम रहा है। (उत्तानायां दश युक्ताः वहन्ति) तनी हुई धुरामें दश जोडे हुए खींचते हैं। (सूर्यस्य रजसा आवृतं चक्षुः) सूर्यका रजसे व्याप्त हुआ आंख (एति) चलता है। (यस्मिन् विश्वा भुवना आतस्थुः) जिसमें सब भुवन रहे हैं ॥ १४ ॥ (ऋ० १ । १६४ । १४)

कालसे चक्रकी नाभिमें घूमता हुआ भी नहीं टूटता है ॥ ११ ॥

पिता को पांच पांव हैं, उसके बारह रूप हैं, और वह द्युलोक के परले आधे भागमें रहता है, ऐसा एक प्रकारके लोग उसका वर्णन करते हैं; परंतु कई दूसरे ज्ञानी उसीका ऐसा वर्णन करते हैं कि वह अतिविलक्षण छः आरोंवाले सात चक्रोंमें रहता है ॥ १२ ॥

बारह आरोंवाला वह चक्र कभी क्षीण नहीं होता है, वह सत्यमय द्युलोक में बारंबार घूमता है। इस में सातसौ वीस जुडे भाई उसके पुत्र विराजमान हैं ॥ १३ ॥

यह परिघवाला नाशरहित चक्र बारंवार घूमता है। इस रथकी तनी हुई महती धुरामें दस घोडे इस रथको खींचते हैं। जिससे संपूर्ण भुवन ठहरे हैं; वह सूर्यका चक्षु रजसे व्याप्त है ॥ १४ ॥

साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामश स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥ १६ ॥
अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् क्व स्वित् सूते नहि यूथे अस्मिन् ॥१७॥

अर्थ-(स्त्रियः सतीः) वे स्त्रियां होनेपर भी (तान् उ मे पुंसः आहुः) उनको मुझे पुरुष हैं ऐसा कहा। यह बात (अक्षण्वान् पश्यत्) आंखवाला देखता है, परंतु (अन्धः न विचेतत्) अन्धा उसको नहीं जानता। (यः कविः पुत्रः) जो पुत्र कवि है (सः ईं आ चिकेत) वह भली प्रकार इसको जानता है, (यः ताः विजानात्) जो उनको जानता है (सः पितुः पिता असत्) वह पिताकाभी पिता होता है ॥ १५ ॥ (ऋ० १। १६४। १६)

(साकंजानां सप्तथं एकजं आहुः) साथ जन्मे हुओंमें सातवां एकही बना है ऐसा कहते हैं। (षट् इत् यमाः) जो छः निश्चयसे जुडे हैं,वे (देवजाः ऋषयः इति) देवोंसे उत्पन्न ऋषि हैं। (तेषां धामशः) उनके लिये स्थानसे (इष्टानि विहितानि) इष्ट बातें बनाई हैं। (स्थात्रे रूपशः विकृतानि रेजन्ते) ठहरनेवाले एकके लिये आकारसे विकृत होकर कांपते हैं ॥ १६ ॥ (ऋ० १। १६४। १५)

(एना गौः) यह गाय (अवः परेण) निम्न स्थानके दूरके पदसे और (परः अवरेण) परलेको पासवाले (पदा) पदसे (वत्सं बिभ्रती) बछडेका

भावार्थ-वस्तुतः स्त्रियां होनेपर भी उनको पुरुष कहते हैं। क्योंकि जिसके आंख अच्छे होंगे वही देख सकता है, अन्धेको यह नहीं दीखता। इनमें से जो कवि होगा वही सत्य बात को जान सकेगा, और जो जानता है वही पिताका भी पिता बन जाता है ॥ १५ ॥

एकसाथ सात उत्पन्न हुए हैं; उनमें एक ऐसा है कि जो अकेला जन्मा है। इनमें छः जुडे हैं, उनको देवताओंसे उत्पन्न ऋषि कहा जाता है। उनका स्थानस्थानसे इष्ट करना योग्य है। एक जो सदा रहनेवाला है उसके लिये आकारसे बनाये विविध पदार्थ कंप उत्पन्न करते हैं ॥ १६ ॥

यह गौ अपने दूरके पदसे पासवाले और पासके पदसे दूरवाले बच्चेको धारण पोषण करती है। वह कहांसे आगई, किस आधे भागके पास

अवः परेण पितरं यो अस्य वेदावः परेण पर एनावरेण ।
कवीयमानः क इह प्र वोचद् देवं मनः कुतो अधि प्रजातम् ॥ १८ ॥
ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उं अर्वाच आहुः ।
इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति ॥ १९ ॥

धारण करती हुई (उत् अस्थात्) ऊपर उठती है। (सा कद्रीची) वह कहांसे आती है और (कं स्वित् अर्ध परा अगात्) किस अर्धभागके पास जाती है ? वह (क स्वित् सूते) कहां प्रसूत होती है ? (अस्मिन् यूथे न) इस संघमें तो नहीं होती ॥ १७ ॥ (ऋ० १ । १६४ । १७)

(परेण अवः अस्य पितरं) ऊपरसे नीचे तक इस के पिताको (यः वेद) जो जानता है तथा (परेण अवः एना अवरेण परः) दूरसे नीचेतक इस को नीचेसे उपरतक जो जानता है, (कवीयमानः कः इह प्रवोचत्) कविके समान आचरण करनेवाला कौन यहां कहेगा? (देवं मनः कुतः अधिजातं) दैवी शक्तिसे युक्त मन कहांसे प्रकट हुआ है ? ॥ १८ ॥ (ऋ०१।१६४।१८)

(ये अर्वाञ्चः) जो यहां के हैं (तान् उ पराचः आहुः) उनको दूरके कहा जाता है तथा (ये पराञ्चः तान् उ) जो दूरके हैं उनको (अर्वाचः आहुः) समीपके करके कहा जाता है। हे (सोम) सोम ! तू और (इन्द्रः च) इन्द्र (या चक्रथः) जिनकी रचना करते हैं, (तानि) उनको (धुरा युक्ता न) धुरा को जोडे हुओंके समान (रजसः वहन्ति) लोकोंमें खींचते हैं ॥ १९ ॥ (ऋ० १ । १६४ । १९)

पहुंचती है, कहां प्रसूत होती है, इसको जानना चाहिये। वह इस संघमें तो नहीं रहती ॥ १७ ॥

दूरसे पास तक इसके पिताको जो जानता है वह सबको नीचेसे ऊपर तक और ऊपरसे नीचे तक जानता है। कौन कवि इसको जानकर यहां आकर कहेगा ? हमारा दैवी शक्तिसे युक्त मन कहांसे प्रकट हुआ है? ॥ १८ ॥

जो यहांके होते हैं, इनको दूरके हैं ऐसा कहते हैं, और जो दूरके होते हैं उनको समीपके हैं ऐसा मानते हैं। सोम और इन्द्र यहांकी सब रचना करते हैं, ये सब इस विश्वकी धुरामें जुडे जाकर संपूर्ण लोकोंको चलाते हैं ॥ १९ ॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥ २० ॥
यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे ।
तस्य यदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ॥ २१ ॥
यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भक्षमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति ।
एना विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ॥२२॥ (२५)

अर्थ- (द्वा सुपर्णा) दो उत्तम पंखवाले पक्षी हैं, वे (सयुजा सखाया) साथ रहनेवाले मित्र हैं, वे (समानं वृक्षं परिषस्वजाते) एकहि वृक्षपर मिलकर रहते हैं। (तयोः अन्यः) उनमेंसे एक (स्वादु पिप्पलं अत्ति) मीठा फल खाता है, (अन्यः अनश्नन्) दूसरा न खाता हुआ (अभि चाकशीति) चमकता है ॥ २० ॥ (ऋ. १ । १६४ । २०)

(यस्मिन् वृक्षे) जिस वृक्षपर (मध्वदः सुपर्णाः) मधुर रस खानेवाले पक्षी (निविशन्ते) निवास करते हैं, और (विश्वे अधि सुवते) सब संतान उत्पन्न करते हैं, (तस्य यत् अग्रे स्वादु पिप्पलं आहुः) उसका जो प्रारंभमें मीठा फल है ऐसा कहते हैं, (तत् न उत् नशद्) वह उसको नहीं मिलता, (यः पितरं न वेद) जो पिताको नहीं जानता ॥ २१ ॥
(ऋ० १।१६४।२२)

(सुपर्णाः) ये पक्षी (यत्र अमृतस्य भक्षं) जहां अमृतका भाग (विदथाभिः अनिमेषं अभिस्वरन्ति) ज्ञानपूर्वक विश्राम न लेते हुए एकस्वरसे प्राप्त करते हैं, (एना विश्वस्य भुवनस्य गोपाः) यह सब भुवनोंका रक्षक (सः धीरः) वह धैर्यशाली (अत्र मा पाकं आविवेश) यहां मुझ परिपक्व होनेवाले में प्रविष्ट होता है ॥ २२ ॥ (ऋ० १६४।२१)

भावार्थ- दो आत्मा हैं, वे साथ रहनेवाले परस्परके परम मित्र हैं। ये दोनों संसाररूपी वृक्षपर मिल जुलकर रहते हैं। उनमेंसे एक इस संसारवृक्षका मीठा फल खाता है और दूसरा न भोग करता हुआ केवल चमकता रहता है ॥ २० ॥

इस संसाररूपी वृक्षपर मीठा फल खानेवाले अनंत आत्मारूपी पक्षी निवास करते हैं। ये सब यहां संतान उत्पन्न करते हैं। इनमेंसे जो अपने

पिताको नहीं जानता उसके सामनेका मीठा फल भी उसको नहीं मिलता ॥ २१ ॥

ये सब आत्मारूपी अनंत पक्षी अमृतका फल खानेकी इच्छासे विश्राम न लेते हुए ज्ञानपूर्वक पुकारते हैं। संपूर्ण भुवनोंका रक्षक वह धैर्यशाली परमात्मा इस जगत्में मुझ जैसे अपरिपक्वमें अर्थात् प्रत्येक प्राणीमें प्रविष्ट हुआ है ॥ २२ ॥

जीवात्मा, परमात्मा और संसार।

इस सूक्तमें अध्यात्मविद्याका उत्तम विचार हुआ है। ऋग्वेदमें (१ । १६४ स्थान-पर) यही सूक्त है। वहां इस सूक्तके ५२ मंत्र हैं, इस ऋग्वेदके एकहि सूक्तके दो भाग करके इस अथर्ववेद कां० ९ के नवम और दशम ये दो सूक्त बने हैं। नवम सूक्तके २२ मंत्र हैं और दशम सूक्तके २८ मंत्र हैं। ये दोनों सूक्तोंके मिलकर ५० मंत्र होते हैं। पूर्वोक्त ऋग्वेद १ । १६४ के ५२ मंत्र हैं। कुछ पाठभेद, मंत्रक्रम भेद और मंत्रोंकी न्यूनाधिकता भी है। तथापि सर्वसाधारण रीतिसे ऐसा कह सकते हैं कि, इस ऋग्वेद सूक्तके ये अथर्ववेदके दो सूक्त बने हैं। अथर्ववेदमें ऋग्वेदके कई सूक्त हैं, उनमें यह भी एक सूक्त है।

ऋग्वेदके इस सूक्तके पहिले २२ मंत्र कुछ थोडे क्रमभेदसे यहां हैं। और अगले मंत्रोंका अगला सूक्त बना है।

इस सूक्तमें, जीवात्मा परमात्मा, और संसारवृक्षका उत्तम वर्णन है। वेदका जो उत्तम विषय है वह यही है। जो ब्रह्मविद्या और आत्मविद्या कही गई है वह ऐसेहि सूक्तोंमें कही है। यह गुप्तविद्या है, इसीलिये व्यंग्य शब्दोंकी योजना द्वारा यह अध्यात्मविद्या यहां कही है, स्पष्ट शब्दोंसे नहीं कही है। इसी कारण मंत्रोंके शब्दोंसे स्पष्ट बोध नहीं होता, परंतु सूक्ष्म विचार करनेपरहि बोध होने लगता है। इस सूक्तका विचार करनेके लिये अन्तिम मंत्रोंका विचार सबसे प्रथम करना चाहिये; इसका कारण यह है कि इन तीन मंत्रोंमें वक्तव्य बात अधिक स्पष्ट शब्दोंद्वारा व्यक्त की गई है। इसलिये इन तीन मंत्रोंका विचार हम यहांपर प्रथम करते हैं—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। (मं० २०)

इस मंत्रभागका व्यक्त अर्थ यह है कि " दो उत्तम पंखवाले पक्षी साथ साथ रहनेवाले परस्परके मित्र हैं और वे दोनों एक ही वृक्षपर एक दूसरेको आलिंगन देकर

रहते हैं।" यहां जिन पक्षियोंका वर्णन है वे केवल दोहि नहीं हैं, परंतु अगलेहि मंत्रमें कहा है कि (मध्वदः सुपर्णाः) मीठे फलका भोग करनेवाले पक्षी बहुत हैं, असंख्य हैं, अनंत हैं। यहां (मधु-अदः) मीठे फलका भोग करनेवाले पक्षी अनंत हैं ऐसा कहा है, परंतु जो दूसरा पक्षी मीठा फल खानेका इच्छुक नहीं है और जो केवल इसका हमेशाका साथी है, वह (अभिचाकशीति) प्रकाशता तो है, परंतु (अन्-अश्नन्) भोग नहीं करता। यह पक्षी एकहि है। इस संपूर्ण वृक्षपर भोग करनेवाले पक्षी अनंत है परंतु भोग न करनेवाला पक्षी एकहि है, तथापि यह एक होता हुआ भी, सब अन्य भोगी पक्षियोंको ऐसा प्रतीत होता है कि यह हमारा (सयुजू सखा) साथी मित्र है। यह पक्षी एक होते हुए भी सबके साथ रहता और सबका प्यारा मित्र बना रहता है, यह बात कैसी बनती है, यह विचार करके हि समझलेना चाहिये।

यह वृक्ष 'संसार वृक्ष' ही है। इस संसार वृक्षपर बहुत फल लगते हैं, कई फल पकते हैं और कई कच्चेभी रहते है। इसी संसारवृक्षपर एक परमात्मा सर्वत्र व्यापक होकर रहता है, इस संसारवृक्ष की हरएक शाखापर यह विराजमान है। यह संसारवृक्ष का एकभी फल नहीं खाता, परंतु अपने निज तेजसे चमकता रहता है, क्यों कि इसके समान किसीका भी तेज नहीं है।

इसी संसारवृक्षपर सदा मीठे फल खानेकी इच्छा करनेवाले अनंत जीवात्मा रहते हैं, इनके विषयमें ऐसा वर्णन है—

यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते
सुवते चाधि विश्वे ॥ (मं० २१)

"इस संसारवृक्षपर मीठा फल खानेवाले अनंत पक्षी निवास करते हैं यहां अपनी संतानवृद्धि करते है और सब इस वृक्षपर हि रहते हैं।" ये पक्षी निःसंदेह जीवात्माहि हैं। क्योंकि यही जीवात्मा वारंवार जन्म लेता है, सुखभोगकी लालसा धारण करता है, संसारमें रहता है और संतान उत्पन्न करता है। यही जीवात्मा—

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति।(मं०२०)

"उनमेंसे एक मीठा फल खाता है, परंतु दूसरा फलभोग न करता हुआ केवल प्रकाशता है।" मीठा फल खानेवाला जीव आत्मा है और फलभोग न करनेवाला परमात्मा है। उसका वर्णन वेदमें अन्यत्र इस तरह आगया है—

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।

तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥

अथर्व. १०।८।४४

" भोगकी कामनारहित, धैर्यवान्, अमर, स्वयंभु, रससे तृप्त, कहांभी न्यून नहीं, जरारहित तरुण इस परम आत्माको जानकर हि मृत्युका भय दूर होता है।" यह परमात्मा ' अकाम ' होनेके कारण फल भोग नहीं करता और इसका मित्र जीवात्मा सकाम होनेके कारण सदा मीठे फल खानेकी इच्छा करता है। तथापि इसको सदा मीठे फल मिलतेहि हैं ऐसा कोई नियम नहीं। यह जैसे कर्म करता है, उसके अनुसार उसको मीठे या कडुवे फल मिलते रहते हैं और जो मिलते हैं उनका भोग वह करता रहता है।

जीवात्मा और परमात्मा ' स-युज् ' अर्थात् एक दूसरेके साथ लगे हैं, इनके मध्यमें कोई स्थानका अन्तर नहीं है। जिस स्थानमें एक है उसी स्थानमें उसके साथ दूसरा है। जीवात्मा (मध्वदः सुपर्णाः) मीठा भोग करनेवाले ये जीव अनंत हैं,अनंत होनेके कारण इनका आकार अणु है, अर्थात् ये छोटे छोटे परिच्छिन्न हैं। परंतु परमात्मा प्रत्येकके साथ समानतया होनेके कारण विभु (न कुतश्चन ऊनः) सर्वत्र व्यापक और कहींभी न्यून नहीं ऐसा है। यह परमात्मा हरएकमें व्यापक है, देखिये इसका वर्णन—

एना विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश। (मं०२२)

" यह संपूर्ण भुवनोंका रक्षक धैर्यशाली परमात्मा यहां मुझ जैसे अपरिपक्व जीवमें भी प्रविष्ट हुआ है।" जैसा मुझमें है वैसाही सबमें है। सर्वव्यापक होनेसे हि वह सबके साथ मिला जुला रह सकता है। इस तरह यह परमात्मा एक सर्वव्यापक और सर्वत्र परिपूर्ण है, और जीवात्मा अनेक परिच्छिन्न, अपूर्ण और भोगी हैं। अतः इनकी सदा इच्छा रहती है कि—

सुपर्णा अमृतस्य भक्षमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति। (मं० २२)

" ये जीवात्मा अमृतका अन्न सदा प्राप्त करनेके लिये पुकारते रहते हैं।" यदि इन जीवात्माओंकी कोई पुकार है तो ' अमृत चाहिये' यही एक पुकार है, मुझे ऐसा अन्नभोग चाहिये कि जिससे मैं नीरोग होकर अमर बनूं। सदा यही पुकार प्रत्येक की है। पाठक इस जगत्में देखेंगे तो प्रत्येक जीव की यही पुकार है, यह बात प्रत्यक्ष हो जायगी। प्रत्येक मनुष्यकी अथवा प्रत्येक प्राणीकी यह पुकार है और उसका प्रयत्नभी इसी लिये हो रहा है। मुझे सदा टिकनेवाला सुख मिल जावे, इसलिये प्रयत्न होता है। सुख की इसको इच्छा है और दुःखकी अनिच्छा है, परंतु दुःख मिलता है और सुख

दूर होता है, इससे भी स्पष्ट होता है कि इसकी नियामक शक्ति कोई दूसरी है ।

यह जीवात्मा परमात्माके साथ रहता है, उसके पास है, अत्यंत समीप है, जीवात्मा परमात्मा (परिषस्वजाते) आलिंगन देनेके समान रहते हैं अथवा इससे भी और (आविवेश) जीवात्मामें परमात्मा है, इतनी इसकी समीपता होनेपर भी यह जीवात्मा परमात्माको जानता है ऐसी बात नहीं है । और परमात्माको अपने परम पिताको न जाननेके कारण इसका सुख दूर हो जाता है, इसी उद्देश्यसे यह बात कही है—

तस्य यदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद । (मं० २१)

" जो अपने पिताको नहीं जानता उसके पास भी मीठा फल हुआ तो भी वह उसके लिये नष्ट हो जाता है ।" हरएकके पास मीठा फल होता है, परंतु वह उसको प्राप्त होता है कि जो अपने पिताको जानता है । जो नहीं जानता उसको फल पास होनेपर भी भोगनेको नहीं प्राप्त होता । जीवात्मा और परमात्मा इतने संनिध होनेपर भी और परमात्मा इतना हितकर्ता समर्थ मित्र बिलकुल साथ रहनेपर भी, यह जीव उस परम पिताको नहीं जानता और दुःख भोगता रहता है, इससे और शोककी बात कौनसी हो सकती है ? जीवात्मा परमात्माको जान सकता है और जानकर परम सुख भी निश्चयपूर्वक प्राप्त कर सकता है, परंतु हाय ! कितने जीवात्मा ऐसे हैं कि जो इस ज्ञानको प्राप्त करनेका यत्न तक नहीं करते और दुःख भोगते हुए संतप्त होते हैं । यह मनुष्य इतने समीप स्थितको नहीं जानता, परंतु इस सृष्टिमें दूरस्थित पदार्थोंको जाननेका यत्न करता है, ऐसी विपरीत इसकी बुद्धि है, देखिये—

ये अर्वाञ्चस्तां उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्तां उ अर्वाच आहुः । (मं०१९)

" जो पासके हैं वे इसको दूरके प्रतीत होते है और जो दूरके हैं येही इसको समीप हैं ऐसा प्रतीत होता है । " यही मिथ्या ज्ञान इसके दुःखका कारण है । परमात्मा इतना समीपसे समीप होनेपर भी वह इसको अतिदूर प्रतीत होता है और जगत् के भोग अतिदूर होनेपर भी इसको समीप प्रतीत होते हैं । इसलिये यह परमात्माको जाननेका यत्न नहीं करता और जागतिक भोग प्राप्त करनेमें दत्तचित्त होता है । परंतु इससे यह होता है कि अपने पिताको न जाननेके कारण इसको किसी प्रकारका सुख प्राप्त नहीं होता और वारंवार दुःखके भंवरमें पडता है । इसलिये—

अवः परेण पितरं यो अस्य वेदावः परेण पर एनावरेण । (मं० १८)

" अपना पिता ऊपरसे नीचे तक है ऐसा जो जानता है " वही निःसंदेह सुखका भागी हो सकता है । परमपिता परमात्मा की शक्ति विशाल है, वह अपना साथी और

सत्य मित्र है, वह मेरा साथी है, सदा हितकर्ता है, वह मेरे अन्दर है, वह निष्काम, अकाम और सदा तृप्त होता हुआ भी मेरे अन्दर है, यह बात जो जानता है वही सच्चे सुखका भागी है। इस परमपिता का ज्ञान प्राप्त होनेके लिये अपना मन दिव्य शक्तिसे युक्त अथवा पवित्र होना चाहिये। यह मन—

देवं मनः कुतो अधिप्रजातम्? (मं० १८)

"यह मन किस तरह दिव्य बनता है?" राक्षसी मन तो हरएक का बन सकता है। विशेष स्वार्थसे तो मनमें राक्षसी वृत्ति आसकती है, परंतु दिव्यभाव मनमें किस रीतिसे आसकते हैं, इसका विचार हरएक मनुष्यको करना चाहिये। क्यों कि मनुष्य का देव बनना अथवा राक्षस बनना यह केवल मनकी इस अवस्थापर सर्वथा निर्भर है। इस मनको देव बनाना किस तरह होगा इसका विचार—

कवीयमानः क इह प्रवोचत्। (मं० १८)

"कौनसा श्रेष्ठ विद्वान् यहां आकर हमें कहेगा?" ऐसी चिन्ता हरएक को करनी चाहिये। और जो विद्वान इस प्रकार का उपदेश करनेमें समर्थ होगा उसके पास जाकर उससे इस विद्याका ग्रहण करना चाहिये, तथा उसका अनुष्ठान करके अपना मन सुसंस्कारोंसे दैवीगुणोंसे युक्त बनाना चाहिये। जिसका मन दिव्य गुणोंसे युक्त होता है और जिसके मनसे राक्षसी भाव सचमूच नष्ट हो जाते हैं, वही अपने पिताको अपने अन्दर प्रविष्ट देख सकते हैं। और परमसुखके भागी बना सकते हैं। इस प्रकार यहां गुरुकी तलाश करनेके लिये सूचना की है।

इतने विवरणसे पाठकोंको पता चला होगा कि एक विभु परमात्मा, दूसरा परिच्छिन्न जीवात्मा और तीसरा यह संसार ये तीन पदार्थ यहां कहे हैं। इनमें जीवात्मा और परमात्मा आत्मा होनेसे एक जैसे हैं, परंतु तीसरा संसारवृक्ष जीवात्माको भोग देनेके कार्यमें उपयुक्त है। इन तीनोंका वर्णन इन सूक्तके प्रारंभिक मंत्रमें एक नये ढिंगसे दिया है। देखिये—

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यो अस्त्यश्नः। (मं० १)

"एक दाता सुन्दर पुराणपुरुष है और उसका बीचका भाई भोक्ता है।" यहां दो पदार्थोंका वर्णन है। पहिला (पलित) अतिवृद्ध पुराण पुरुष है, इसको 'वृद्ध स्थविर पलित पुराण' आदि नाम स्थान स्थानपर प्रयुक्त होते हैं तथापि यह 'युवा' (ऋ० १०।८।१२४) भी है अर्थात् सबसे पूर्वकालसे वर्तमान होनेके कारण यह पुराण है, न कि पुराना जीर्ण होनेके कारण इसको कोई वृद्ध कहते हैं। यह परमात्मा सबसे

पुराण होता हुआ भी तरुण है, अत एव इसको यहां ' वाम ' अर्थात् सुन्दर, रमणीय कहा है। यह ' होता ' अर्थात् सबको दानसे अनुग्रह करनेवाला है, सब जगत् के ऊपर इसका बडा अनुग्रह है। उसीके अनुग्रहसे सब संसार चल रहा है। ऐसा और एक पुरुष है जिसको परमात्मा कहते हैं। यह सबसे वृद्ध अर्थात् बडा भाई है। इसका बीच का मझला भाई (मध्यमः भ्राता) एक है। वह (अश्नः) बडा खानेवाला है, भोग भोगनेवाला है, भोगके विना रह नहीं सकता। बडा भाई तो भोग नहीं भोगता, वह विरक्त है, विरक्तिके कारण बलिष्ठ है और यह भोग भोगनेसे रोगोंसे ग्रस्त होकर निर्बल रहता है। इस प्रकार यहां इन दो भाइयोंका वर्णन किया है। ये ' द्वौ सुपर्णौ ' द्वारा वर्णित जीव और शिव ही हैं। इनका एक तीसरा भी भाई है, उसका वर्णन ऐसा होता है-

तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्य। (मं० १)

" इसका एक तीसरा भाई है जो पीठपर घी लेकर रहता है।" इन तीनों भाइयोंमें बडा भाई तो कुछ भी खाता नहीं है, संभव है अतिवृद्ध होनेके कारण उसकी क्षुधा मंद हुई होगी, बीचका भाई तरुण होनेसे बहुत खाता रहता है, और जो यह तीसरा भाई है वह अपने पीठपर घी जैसे पौष्टिक पदार्थ अथवा रस धारण करता है और बीचके भाईको खिलता रहता है। अन्नरस तैयार करनेका कार्य इस तीसरे भाईके आधीन है, ज्ञान, सुख तथा शान्ति प्रदान करना वृद्ध भाईके आधीन है और बीचका भाई इन दोनों भाइयोंकी सहायता लेता हुआ अपनी उन्नति करता रहता है। इस प्रकार यहां तीन भाइयोंका वर्णन है वह १८ वें मंत्रके वर्णनके साथ मिलता जुलता है।

इसी वर्णनपर तीन तेजोंकी कल्पना करके यज्ञोंकी रचना की है। सूर्य द्युस्थानमें, विद्युत् अन्तरिक्षमें और अग्नि भूस्थानमें, ये तीन तेज हैं। सूर्य सबसे बडा भाई है (वाम) सुंदर भी है और (पलित) श्वेत किरणोंसे युक्त है। उसका मध्यम भाई विद्युत् तेज है यह बडा खानेवाला है, जहां बिजली गिरती है वहां उस चीजको वह खाती है, इनका एक सबसे छोटा भाई इस पृथ्वीपर अग्नि रूपसे है यह अपने पीठपर आहुतियोंसे डाला हुआ घी तथा हवन सामग्रीका भार लेकर खडा रहता है और अन्यान्य देवताओंको वह भाग देकर उनका पोषण करता है। इससे भाग लेकर अन्यान्य देवतांश पुष्ट होते हैं। अग्नि यहां भूस्थानका प्रतिनिधि है। सब यज्ञकी उत्पत्ति इस विधानको दर्शानेके लिये हुई है। सूर्य प्रकाश देनेवाला, अग्नि पोषक घी देनेवाला

इसी प्रकार दो हाथ, दो पांव, मुख, गुदा और शिश्न ये सात कर्मेंद्रियाँ यद्यपि सात है, तथापि आत्मा की कर्मशक्ति के हि ये सात विभाग हुए हैं, इसलिये स्थूल दृष्टिसे ये सात घोडे इस शरीर रूपी रथको जोते हैं, ऐसा हम कह सकते हैं; तथापि आत्माकी दृष्टिसे हम ऐसा भी कह सकते हैं कि एक हि आत्माकी कर्मशक्ति यहां सात रीतिसे विभक्त होकर कार्य कर रही है।

कर्मेंद्रिय, ज्ञानेंद्रिय, प्राण, मन, चित्त, अहंकार, बुद्धि ये भी सात घोडे इस शरीरके साथ जोते गये हैं, परंतु आत्मा की ओरसे देखनेसे ऐसा भी कह सकते हैं कि एक ही इन्द्रशक्ति इस सब इंद्रियोंमें कार्य कर रही है।

इसी प्रकार अन्यान्य विषयोंके संबंधमें समझना योग्य है। जैसा एक हि प्राण शरीरमें ग्यारह स्थानोंमें रहनेसे प्राण, अपान आदि नामोंको प्राप्त करता है। यह मात्र शारीरिक विषयोंके संबंधमें हुआ, परंतु जैसा यह शरीर छोटा ब्रह्माण्ड है उसी प्रकार यह संपूर्ण जगत् भी एक बडा शरीर हि है। अतः दोनों स्थानोंमें नियम एक जैसा है, अतः 'एक रथको सात घोडे जोते हैं, परंतु सात नामोंवाला एकहि घोडा इस रथको खींचता है' इस बातको इस जगत्में भी देखना चाहिये।

यह जगत् पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश, तन्मात्र और महत्तत्त्व इन सातोंके द्वारा चलाया जाता है यह सत्य है, तथापि एकहि महत्तत्त्व इन सातोंमें परिणत होकर इस जगत्को चलाता है यह भी उतना हि सत्य है। सूर्यके किरणोंमें सात रंगोंके सात किरण हैं यह बात जैसी सत्य है उसी प्रकार सूर्यका एक हि किरण उन सात प्रकाश-किरणोंमें विभक्त हुआ है यह भी उतनाहि सत्य है। इसी कारण सूर्यको सप्ताश्व, सप्तरश्मि इत्यादि नाम दिये गये हैं।

एक संवत्सर कालके सात ऋतु हैं, वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमंत, शिशिर ये छः और अधिक मासका एक मिल कर सात ऋतु हैं। तथापि इन सातों ऋतुओंमें एकहि काल व्यापता है और सात ऋतुओंमें परिणत होता है।

बाल्य, कौमार्य, तारुण्य, यौवन, परिहाण, वार्धक्य, जरा ये सात आयुके जैसे सात भाग हैं और इनमें एकहि जीवन की अवधि अर्थात् आयु व्यतीत होती है; उसी प्रकार इस जगतकी आयुके भी सात भाग हैं और उनमें जगतकी आयु विभक्त होती है। इस दृष्टिसे सर्वत्र देखना योग्य है। तात्पर्य यह है कि स्थूल दृष्टिसे विभक्त अवस्था ज्ञात होती है और सूक्ष्म दृष्टीसे एकावस्था किंवा साम्यावस्था प्रतीत होती है। इसके लिये और भी एक उदाहरण देते हैं। मिट्टी एक है परंतु उसके पात्र अनंत होते हैं,

सोना एक है परंतु उसके अनंत आभूषण होते हैं। यहां मिट्टी और सोनेकी दृष्टिसे सब पात्र और आभूषण एकहि हैं, तथापि व्यवहारके आकारभेदसे उनमें भेद भी है। इसी प्रकार 'एक रथको ओढनेवाले सात घोडे हैं तथापि उन सातोंका नाम धारण करनेवाली एक हि खींचनेवाली शक्ति है,' इस मंत्रके कथनमें "एकहि शक्ति सात स्थानोंमें विभक्त होकर इस जगतमें कार्य कर रही है" इतनाहि विषय मुख्य है, फिर पाठक उसको शरीरमें देखें अथवा जगत्में देखें।

जिस रथको ये सात घोडे जोते हैं उस रथको एकहि चक्र है। और वह चक्र-

त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वम्। (मं० २)

"तीन नाभिवाला यह एक चक्र जरारहित और अप्रतिबंधसे चलनेवाला है।" इसका विचार प्रथम हम जगत्में देखेंगे, कालचक्र एक है, और उसके भूत, भविष्य, वर्तमान ये तीन केन्द्र हैं। यह चक्र कदापि क्षीण नहीं होता और न इसको कोई प्रतिबंध करता है। संवत्सरचक्र एक है और उसके शीत, उष्ण और वृष्टिके तीन केन्द्र हैं इनमें यह घूम रहा है। प्रकृतिचक्र एकहि है और उसके सत्व, रज और तम ये तीन केन्द्र हैं, इनमें यह घूम रहा है। जगत् चक्र एक है और उसके उत्पत्ति, स्थिति और लय ये तीन केन्द्र हैं, इनमें यह घूम रहा है, इस तरह सृष्टिके अन्दर इस एकचक्रकी बातको पाठक देखें और अनुभव करें।

इसी ढंग से मनुष्य के अंदर भी इस चक्रको देखना उचित है। एक हि शरीर-चक्र कफ, पित्त, वात इन तीन केन्द्रोंपर चल रहा है। यही प्रवृत्तिचक्र सत्व रज तमके ऊपर घूम रहा है। इसी तरह और कई नाभियां यहां भी हैं।

यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः। (मं० २)

"इसके अन्दर सब भुवन ठहरे हैं।" यह जो चक्र पूर्वस्थानमें कहा है उसमें सब भुवन रहे हैं। जगत् के पक्षमें संपूर्ण भुवन रहे हैं यह बात स्पष्ट हि है। शरीरके पक्षमें शरीरान्तर्गत सब अंग और अवयव ही यहां भुवन लेनेसे मंत्रमें कहा तत्त्व शरीरमें अनुभव हो सकता है। शरीरमें कफपित्तवात नामक तीनों नाभियोंमें भ्रमण करनेवाले चक्रमें ये सब अंग और अवयव कार्य करते हैं। इसी ढगसे अन्यान्य चक्रों के विषयमें जानना योग्य है।

अगले तृतीय मंत्रमें (इमं रथं ये सप्त अधितस्थुः) इस रथके आश्रयपर जो सात तत्त्व अधिष्ठित हुए हैं, ऐसा कह कर, आगे 'सप्तचक्र रथ, सप्त अश्व, सात (स्वसारः) बहिनें तथा (गवां सप्त) सात गौवें ' हैं ऐसा कहा है। यह रथ सात

चक्रोंवाला है, इसके सात गति—साधन हैं, येही सात गतियां इसके अश्व हैं, गौ नाम वाणीका है इस शरीरमें इस वाणीके सात भेद हैं, इंद्रियां सात, सात विभक्तियां, सात कालविभाग, (अयन, ऋतु, मास, पक्ष, दिन, रात्री, मुहूर्त ये सात कालविभाग) हैं। सात बहिनें यहां शरीरमें सात मज्जा केन्द्रोंसे चलनेवाले प्रवाह हैं, सात इंद्रियोंमें चलनेवाले प्रवाह हैं। बाह्य जगत् में सप्त लोक, सप्त अवस्था, सात किरणें, सात नदियां आदिकी कल्पना करना योग्य है।

यह कूटमंत्र है और इसका अर्थ इस प्रकारके मनन से जाना जा सकता है। आगे चतुर्थ मंत्र देखिये—

अनस्था अस्थन्वन्तं बिभर्ति। (मं० ४)

"(अन्—अस्था) जिसमें हड्डी नहीं है ऐसा आत्मा (अस्थन् वन्तं) हड्डी वाले शरीरका धारण करता है।" यह महत्पूर्ण कथन इस मंत्रमें कहा है। आत्माके लिये 'अनस्था' शब्द है और शरीरके लिये 'अस्थन्वान्' शब्द है। इसी प्रकारका भाव निम्नलिखित यजुर्वेदके मत्रमें है—

अकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।

वा० यजु० ४०। ६

"वह आत्मा शरीररहित, व्रणरहित, स्नायु—मांस—रहित है, अत एव शुद्ध और पापरहित है।" यह 'अन् अस्था' (अस्थिरहित) शब्दकाही अधिक विवरण है, अधिक अर्थका विस्तार है। वह आत्मा हड्डीरहित, मांसरहित शरीररहित, व्रण रहित, रक्तरहित, धमनी रहित, चर्मरहित है, इसी प्रकार और भी वर्णन हो सकता है। शरीर हाड्ड, मांस, व्रण, रक्त धमनी आदिसे युक्त है। इस शरीरका धारण उक्त प्रकार का आत्मा कर रहा है। जड शरीरका धारण चेतन आत्मा करता है। इसको कौन देखता है? –

कः जायमानं प्रथमं ददर्श? (मं० ४)

" इस प्रकट होनेवाले आत्माका सबसे प्रथम किसने दर्शन किया?" इसके अस्तित्वके विषयमें किसने प्रथमसे प्रथम अनुभव किया? किसने निश्चित रूपसे इसको जान लिया? किसने इसकी आश्चर्यमयी शक्तियोंका सबसे पहिले अनुभव किया? अर्थात् कौन इसको पूर्णतासे जानता है? और–

भूम्याः असृक् असुः आत्मा क स्वित्? (४)

"इस भूमिके अन्दर अर्थात् स्थूल शरीरके अन्दर रक्त मांस, प्राण और आत्मा

कहां भला निवास करते हैं।" यह स्थूल शरीर पृथ्वीतत्त्वका बना है, उससे भिन्न जलतत्त्व है, वायुतत्त्वभी भिन्न है, तथापि इस शरीरके अन्दर ये पञ्चतत्त्व एकस्थानपर विराजमान हुए हैं और एक उद्देश्यसे कार्य कर रहे हैं? इन विभिन्न तत्त्वोंको एक उद्देश्यसे चलानेवाला यहां कौन है? यहां पृथ्वी तत्त्वसे हड्डी आदी कठीण पदार्थ, जलतत्त्वसे रक्त रेत आदि प्रवाही पदार्थ, अग्नि तत्त्वसे पाचन शक्ति, उष्णता आदिकी स्थिति, वायुतत्त्वसे प्राण आदिकी स्थिति और परमात्मासे आत्मा का प्रकटीकरण इस शरीरमें हुआ है। परंतु ये कहां कैसे रहते हैं? कौन इनका सचालक है। इसी विषयका एक मंत्र अथर्ववेदमें है वह यहां देखिये—

को अस्मिन्नापो व्यदधाद्विषूवृतः पुरूवृतः सिंधुसृत्याय जाताः।
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः॥
अथर्व. १० । २ । ११

"किस देवताने इस शरीरमें शीघ्र गतिवाले, लाल रंगवाले और तांबेके धूम्रके समान रंगवाले, ऊपर, नीचे और तिरछे चलनेवाले जलप्रवाह शुरू किये हैं?" यह रक्तके अभिसरणके संबंधमें वर्णन है, इसी (१० । २) केन सूक्तमें शरीरके अन्यान्य अवयवोंके विषयमें भी पृच्छा की है। इस प्रकार किस देवताके द्वारा यह सब शरीर धारण हुआ है? यह तत्त्वज्ञानके विषयमें एक महत्त्वका प्रश्न है।

कः विद्वांसं प्रष्टुं उपगात्? (मं ४)

"कौन शिष्य इसके विषयमें पूछनेके लिये विद्वान्‌के पास जाता है" और कौन इसके विषयमें ज्ञान प्राप्त करना चाहता है और कौन इसके विषयमें निश्चित ज्ञान देता है?

यः वेद इह ब्रवीतु। (मं ५)

"जो इस आत्माके विषयमें ठीक ठीक ज्ञान जानता है वह यहां आवे, और हम सब शिष्योंसे उपदेश करे" और हमको बतावे कि यह आत्मा इस शरीरका धारण किस प्रकार करता है? यह आत्मा अस्थिरहित होता हुआ अस्थिवाले शरीरको चलाता है, मूक शरीरसे यही वार्तालाप करता है और पंगु शरीरको यही चलाता है। पावोंसे चलना होता है, परंतु ये पांव शरीरके पास हैं और आत्मामें नहीं हैं, तथापि शरीर आत्माकी प्रेरणाके विना चल नहीं सकता। इसी प्रकार शब्दोच्चार करनेवाला मुख है तो शरीरके पास, परंतु आत्माकी प्रेरणाके विना केवल शरीरसे शब्दोच्चार हो नहीं सकते। इसीलिये—

अस्य वामस्य वेः निहितं पदं वेद। (मं० ५)

"इस परमप्रिय गतिमान आत्माका इस शरीरमें रखा हुआ जो पद है," उसको जानना चाहिये। यही पद प्राप्त करना चाहिये, यह गुप्त है, इसीलिये इसकी खोज करनी होती है। सब योगी मुनि, ऋषि, सन्त महन्त इसीकी खोज करते हैं, प्राप्ति करते हैं और आनन्दके भागी बनते हैं।

गावः अस्य शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते। (मं० ५)

"इंद्रियरूपी गौवें इसके सिरके स्थानसे दूध निचोडती हैं।" आंख, नाक, कान, जिह्वा, त्वचा आदि इंद्रियरूपी गौवें रूप, गंध, शब्द, रस और स्पर्श रूपी दूध निकालती हैं। और इन विषयरूपी दूधको यह प्राप्त करके सुखका भागी होता है। इसके विषयमें जिज्ञासु पुरुषके मनमें बहुतवार अनेक प्रश्न पूछनेके लिये उपस्थित होते हैं और वह पूछता भी है—

पाकः मनसा अविजानन् पृच्छामि
देवानां एना निहिता पदानि॥ (मं० ६)

"(पाकः) पक कर तैयार होनेवाला मुमुक्षु मनुष्य (मनसा अविजानन्) मनमे कुछभी आत्मज्ञान नहीं जानता है इसलिये पूछता है कि इस देहके अन्दर (देवानां पदानि) अनेक देवोंके स्थान कहां कहां रखे हैं।" मनुष्य पक कर परिपक्व अर्थात् पूर्ण होनेके लिये यहां रखे हैं, इनमें जिसको अपने अज्ञानका पता लगता है, वह मुमुक्षु बनता है और वह सद्गुरुके पास जाकर उनसे प्रश्न पूछता है कि 'हे गुरो! जो अनेक देवताओंके पद इस शरीरमें रखे गये हैं वे कहां हैं? किस देवताका पद यहां किस स्थानपर रखा गया है? यहां सूर्यदेवने अपना पद चक्षुस्थानमें रखा है, वायुदेवने अपना पद फेफडेमें रखा है, जलदेवने अपना पद जिह्वास्थानमें तथा रेतमें रखा है, इसी प्रकार अन्यान्य देवोंने अन्यान्य स्थानोंमें अपने पद रखे हैं। इस प्रकार इस शरीरमें अनेक देवताओंके पद अर्थात् स्थान किंवा निवासस्थान हैं। प्रथम इनका अनुभव करें और यह किस प्रकार देवमंदिर है इसका ज्ञान प्राप्त करें। यही बात मन्त्र निम्न प्रकार कही है--

दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा।
यो वै तान्विद्यात्प्रत्यक्षं स वा अद्य महद्वदेत्॥ ३॥
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या।
व्यानोदानौ वाङ् मनस्ते वा आकूतिमावहन्॥ ४॥

ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्त्वा कस्मिंस्ते लोक आसते ॥ १० ॥
संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन्।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १३ ॥
गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १८ ॥
रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ २९ ॥
तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥ ३२ ॥
अथर्व. ११।८ (१०)

" दस देवोंसे दस देवपुत्र उत्पन्न हुए, जो इनको प्रत्यक्ष देखता है वह बडा तत्त्वज्ञान कह सकता है। प्राण, अपान, चक्षु श्रोत्र, अमरत्व और नाश, व्यान, उदान वाणी और मन ये दस तेरे संकल्पको चलाते हैं। दस देवोंसे जो दस देवपुत्र हुए, वे अपने पुत्रोंको स्थान देकर किस लोकमें चले गये? सिंचन करनेवाले देव हैं जो सब संसार इकट्ठा करते हैं, सब मर्त्य देहको सिंचन करके ये देव मनुष्य देहमें घुसे हैं। देह रूपी मर्त्य घर करके इसमें देव रहने लगे हैं, रेतका घी बनाकर देव इस पुरुषमें आगये हैं। जो ज्ञानी है वह इस पुरुषको ब्रह्म करके मानता है,क्योंकि इसमें सब देवताएं रहती हैं, जैसी गोशालामें गौवें रहती हैं ॥ "

इस प्रकार इस शरीररूपी देवशालाका वर्णन है। यहां आंखमें सूर्य, फेफडोंमें प्राण किंवा वायु, इस प्रकार अन्यान्य देव अन्यान्य स्थानोंमें विराजते हैं। बडे सूर्य वायु आदि देव बाह्य विश्वमें हैं और उनके छोटे पुत्र नेत्रादि स्थानपर निवास करते हैं। यहाँ मानों उनके पद रखे हैं अर्थात् सूर्यने अपना पद नेत्रस्थानमें रखा है, वायुने अपना पद फेफडोंमें रखा है, जलने अपना पद जिह्वा पर रखा है इसी प्रकार अन्यान्य देवोंने अपने पद शरीरस्थानीय अन्यान्य भागोंमें रखे हैं। इन्हींका वर्णन (देवानां निहिता पदानि) देवोंके पद यहां रखे हैं इन शब्दोंसे हुआ है। तथा—

कवयः ओतवै उ सप्त तन्तून् वितत्निरे। (मं० ६)

" कवि लोग जीवनका वस्त्र बुननेके लिये सात धागोंको फैलाते हैं। " जिस प्रकार जोलाहा ताना फैलाता है और उसमें बानेके धागे रखकर उत्तम वस्त्र तैयार करता है, उसी प्रकार नेत्रसे रूपके, कानसे शब्दके, नाकसे गंधके, जिह्वासे आस्वादके, त्वचासे स्पर्शके, मनसे ज्ञानके और बुद्धिसे विज्ञानके धागे फैलाकर इस तानेमें कर्मयोग और

ज्ञानयोगका धागा मिलाकर सुंदर जीवन का वस्त्र बनता है । यही पुरुषार्थी जीवनका वर्णन है । ये सात तन्तु हैं प्रायः हरएक मनुष्य की खुड्डीपर ताना फैलाया है, जो इसमें पुरुषार्थका धागा मिलायेगा वही उत्तम जीवनवस्त्र बना सकता है । इस प्रकार सात तन्तुओंका वर्णन पाठक देखें और इससे पूर्व जो ' सात ' संख्यावाले पदार्थोंका वर्णन आया है उसके साथ इसका अनुसन्धान करें ।

अचिकित्वान् न विद्वान्, चिकितुषः विद्वनः कवीन्, पृच्छामि । (मं०७)

" अज्ञानी अविद्वान् मैं ज्ञानी विद्वान् कवियोंसे पूछता हूं । ये ज्ञानी लोग मेरी आशंका को दूर करें । अज्ञान ज्ञानीसे पूछे, अविद्वान् विद्वान् के पास जाय, साधारण मनुष्य कविके साथ रहे और अपनी आशंकाएँ पूछें और इसतरह ज्ञान प्राप्त करें । विद्वानसे पूछने योग्य प्रश्न यह है—

यः इमाः षट् रजांसि तस्तंभ । (मं० ७)

" किस एकने इन छः लोकोंको आधार दिया है ? " किस एक का आधार इस संपूर्ण जगतको प्राप्त होता है ? किसके आधार पर यह विश्व है और चल रहा है ? यह प्रश्न विद्वानको प्राप्त कर उसे पूछना योग्य है, और भी एक प्रश्न पूछना योग्य है—

अजस्य रूपे किं एकं स्वित् ? (मं० ७)

"अजन्मा आत्माके रूपमें एक रूप कौनसा है ?" अनेक अजन्मा जीवात्मा हैं, इनकी संख्या अनन्त है । इन अनन्त जीवात्माओंमें एक तत्त्व जो है वह कौनसा तत्त्व है । एकहि परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है । यह एकरस और सर्वत्र अनुस्यूत है । जीवोंमें अनेकत्व और अणुत्व है । इसमें अनेकत्व नहीं और अणुत्व भी नहीं है । प्रत्युत इसमें एकत्व और सर्वव्यापकत्व है । यही एक तत्त्व सर्वत्र भरपूर है । कोई पदार्थ इससे खाली नहीं है । यह परमात्मा अपनी प्रकृतिके साथ रहता है, यह एक गृहस्थके समान है । प्रकृति उसकी धर्मपत्नी है और वह उस प्रकृतिका धर्मपति है । ये किस प्रकार वर्ताव करते हैं देखिये—

माता पितरं ऋते आबभाजे । (मं० ८)

"माता पिताकी सत्यधर्ममें-यज्ञमें-सेवा करती है ।" सहायता करती है । धर्मपत्नी अपने पतिकी सेवा करे और उसको यज्ञ कार्यमें सहायक बने । यह गृहस्थ धर्मका उपदेश यहां मिलता है । सबकी माता प्रकृति परमपिता परमात्माकी सहायता करती है और सृष्टिरूप यज्ञ सिद्ध करनेमें सहायक होती है । यह आदर्श गृहस्थाश्रम है । हरएक गृहस्थी इस प्रकार अपना व्यवहार करे ।

धीती अग्रे मनसा सं जग्मे। (मं० ८)

" यह गृहस्थाश्रमका धारण करनेवाली धर्मपत्नी पहिलेसे हि मनमे उसके साथ मिलती है।" वह केवल बाहरके दिखावेके लिये हि पतिके साथ मिलकर रहती है, ऐसी बात नहीं, परंतु वह मनके आन्तरिक भावसे भी पतिके साथ मिलकर रहती है। गृहस्थाश्रमी स्त्रीपुरुष इसी प्रकार मनसे एकरूप होकर अपना गृहाश्रम चलावें और कृतकृत्य बनें। प्रकृतिमाता तो अपने मनसे परमात्माके साथ ऐसी मिलजुल कर रहती है कि कभी उससे विरोध नहीं करती। जो परमात्माकी इच्छा होती है वैसा विश्वरचना का कार्य करती है। यहां भी गृहस्थाश्रमियोंको बडा अनुकरणीय उदाहरण मिलता है।

सा बीभत्सुः गर्भरसा निविद्धा। (मं० ८)

" वह माता गर्भका धारण पोषण करनेवाली गर्भके रससे रंगी गर्भके पोषणमें लगी रहती है।" दूसरा कोई कार्य उनको सूझता नहीं है। हरएक स्त्री जो गृहस्थाश्रममें है इसी प्रकार गृहमें रहनेवाले पुत्रादिकों की पालना करनेमें दत्तचित्त रहे, गर्भधारण होनेपर गर्भके पालन में योग्य रीतिसे दत्तचित्त हो और ऐसे किसी भी कार्यमें व्यग्र न हो कि जो गर्भके पोषण के प्रतिकूल हों। प्रकृतिमाता अपने गर्भका धारण पोषण और उत्पत्ति आदिके विषयमें कैसी दत्तचित्त होती है और किसी भी प्रकार प्रमाद न करती हुई अपना कार्य तत्परतासे करती है।

नमस्वन्तः उपवाकं ईयुः। (मं० ८)

" (नमस्वन्तः) नमस्कार करते हुए अथवा अन्नसे युक्त पुरुष उनकी प्रशंसा करते हुए उनके पास जाते हैं।" उक्त प्रकारके गृहस्थी जहां होते हैं वहां सब अन्य लोग उनको नमस्कार करते हैं और उनके सत्संगमें रहना चाहते हैं। अथवा अन्न की भेंट लेकर उनके पास उपस्थित होते हैं और उनका उस भेंटसे सत्कार करते हैं। आदर्श गृहस्थीका इस प्रकार सत्कार होता है और आदर्श गृहस्थका घर कैसा होता है, इस विषयमें प्रकृति पुरुषके दृष्टान्तसे ऊपर लिखाही है। पाठक इस का विचार करें। और देखिये—

माता धुरि युक्ता आसीत्। (मं० ९)

" माता गृहस्थके कार्यकी धुरामें लगाई है।" माता पीछे रहनेवाली नहीं है। वह धुरामें रहकर कार्य करनेवाली है। गृहस्थाश्रममें धर्मपत्नीका यही कार्य है। गृहस्थके सब कार्योंमें वह धुरामें रहकर दत्तचित्त होकर कार्यका भार उठाती है, इसीलिये उसको सहधर्मचारिणी गृहिणी कहते हैं। गर्भवती होनेपर भी वह इसी

प्रकार घुरामें रहकर कार्य करती है।

गर्भो धृजनीष्वन्तः अतिष्ठन्। (मं० ९)

"गर्भ अपने अन्दर अन्तःशक्तियोंके आधारपर रहता है।" गर्भको अन्दर धारण करती हुई गृहिणी घुगमें रहकर सब कार्यका भार उठाती है। इसी प्रकार गृहिणी अपने घरमें कार्य करे। पतिके अनुकूल धर्मपत्नी रही तो उनके बच्चे भी पिता माताके (अनु) अनुकूल होते हैं, जिस प्रकार (गां अनु वत्सः) गौके अनुकूल बछडा होता है, ठीक उस प्रकार सद्वर्तनी गृहिणीके बालबच्चे उनके अनुकूल रहते हैं और इस प्रकार अपने पुत्रोंमें वे माता पिता (विश्वरूप्यं अपश्यत्) सब अपना रूप देखते हैं। मातापिताका सब प्रकारका रूप पुत्रोंमें आता है। जैसे मातापिताके शरीर, मन और बुद्धिके भाव होते हैं वैसे हि पुत्र और पुत्रियोंमें होते हैं। अतः कहा है (त्रिषु योजनेषु) तीनों शरीर मन बुद्धिमें सब प्रकार की सारूप्यता दिखाई देती है। पूर्ण गृहस्थाश्रम का यह फल है। इसमें माता पिता, पुत्र और पुत्रियां एक विचारसे परिपूर्ण होती हैं और किसी प्रकार इनमें आपसी विरोध नहीं होता है।

एकः तिस्रः मातॄः त्रीन् पितॄन् बिभ्रत् ऊर्ध्वः तस्थौ ॥ (मं० १०)

"अकेला वह सुपुत्र तीन माताओंको और तीन पिताओंको अपने अन्दर धारण करता हुआ सीधा खडा रहता है।" अर्थात् टेढी चाल नहीं रखता। तीन माताएं ये हैं—"प्रकृतिमाता, विद्यामाता और अपनी माता।" तीन पिता ये हैं—"परमात्मा, गुरु और अपना जनक।" इन तीनोंको वह अपने अन्दर धारण करता है और सीधे व्यवहार करता है। और कभी (न अवग्लापयन्त) कभी ग्लानीको प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार उपासना और आचरणसे इनकी उच्च योग्यता होती है। और ये स्वर्गमें जाते हैं और वहां—

अमुष्य दिवः पृष्ठे विश्वविदः अविश्वविदां वाचं मन्त्रयन्ते। (मं० १०)

"उस द्युलोकके पृष्ठभाग पर विराजते हुए ये ज्ञानी लोग सबके ध्यानमें न आनेवाली बातोंका मनन करते हैं।" वहां स्वर्गमें रहकर ऐसे तत्त्वोंका विचार करते हैं कि जिनका ज्ञान साधारण मनुष्यके ध्यानमें भी नहीं आसकता।

परिवर्तमाने पञ्चारे चक्रे विश्वा भुवनानि आतस्थुः। (मं० ११)

"घूमते हुए पांच आरोंवाले चक्रमें संपूर्ण भुवन रहे हैं" अर्थात् इस चक्रके आधारसे सब भुवन रहते हैं। पञ्च प्राणोंका जो पांच आरोंवाला प्राणचक्र है उसके आधारसे संपूर्ण भुवन ठहरे हैं। यहां शरीरमें प्राणचक्रके आधारपर सब शरीरके अवयव रहते हैं।

प्राण चला गया तो कोई रह नहीं सकता। इसी प्रकार यह संपूर्ण विश्व भी बृहत्प्राण चक्रपर रहा है, विश्वव्यापक महाप्राण जगतके सब भुवनोंका धारण करता है। यह चक्र भ्रमण होरहा है, तथापि इसका मध्यदण्ड (अक्षः न तप्यते) नहीं तपता है। अनादि कालसे यह विश्व घूमता रहनेपर भी इसका कोई भाग तपता नहीं। कोई चक्र जब घूमता है, तब उसका मध्यदण्ड न तपे, इस लिये तेल डालना पडता है, परंतु यहां तेल न डालते हुए हि स्वयं यह मध्यदण्ड नहीं तपता है, यह परमात्माका अद्भुत सामर्थ्य देखने योग्य है। ये जगत्के सब लोकलोकान्तर एक गतिसे घूमरहे हैं, ये कभी ठहरते नहीं, न कभी इनकी गतिमें विघ्न होता है। इस चक्रके मध्यदण्डपर (भूरिभारः) बहुतही भार है। जो ये लोकलोकांतर हैं उनका भार बहुत ही है, इस भारकी कल्पना भी नहीं हो सकती। इतना भार होनेपर भी यह विश्वचक्र विलक्षण शान्तिसे और गतिसे चला रहा है। और अनादिकालसे घूमनेपर भी (सनात् एव सनाभिः न छिद्यते) नहीं छिन्नभिन्न होता है। इस प्रकार यह जगच्चक्र विलक्षण सामर्थ्यसे धारण किया हुआ है।

और बारहवे मंत्रमें "कालचक्र" का वर्णन है इसको यहां (द्वादश आकृति) बारह मासोंकी बारह अवस्थाओंवाला यह कालचक्र अथवा संवत्सरचक्र है। यह संवत्सरचक्र (षड् अरे) छः अरों में विभक्त हुआ है, छः ऋतु येही इसके छः आरे हैं। अधिक मासका और एक ऋतु माना जाता है, इसके साथ सात ऋतु होते हैं, यही दर्शानेके लिये (सप्तचक्रे) शब्द आया है। अथवा संवत्सर, अयन, ऋतु मास, पक्ष, अहोरात्र, मुहूर्त, ये भी कालचक्रके अन्तर्गत सात छोटे चक्र हैं, यह भी [illegible] प्रतीत होता है। यह संवत्सर (पञ्चपाद) पांच पांव वाला है, शीत-[illegible] उष्णकाल और वर्षाकाल और ये तीन काल वर्षके हैं इनमें चान्द्रमास और [illegible] ये दो [illegible] विभाग माननेसे ये संवत्सरके पांच पांव होते हैं, क्यों कि [illegible] यह सबका पिता चलता है और सबका (पिता—माता) संरक्षण करता है। इस प्रकारका यह कालचक्र एक वर्षमें घूमता है और सब संसार का कल्याण करता है इस चक्रमें—

[illegible] पुत्रा अत्र सप्तशतानि विंशतिः च आतस्थुः ॥ (मं० १३)

"[illegible] दो दो जुडे हुए पुत्र मातपितावाले हैं।" ये दिन और रात ही हैं। [illegible] साथ दिन जुडे हैं और [illegible] और [illegible] वर्षमें [illegible] ३६० दिनोंका [illegible] है। इसके दिन और रात्री एक [illegible] दिनके दो

जुड पुत्र माननेसे ७२० होते हैं । अर्थात् यह न चान्द्रवर्ष है और न सौर, परंतु दोनों वर्षोंके मध्यम परिमाणका यह वर्ष है । यह द्वादश महिनोंका (द्वादशारं चक्रं न हि जराय) बारह आरोंवाला चक्र कदाचित् भी जीर्ण नहीं होता है । यह जैसा पहिले था वैसाहि आज भी चल रहा है, कभी जीर्ण (सनेमि अजरं चक्रं) अथवा क्षीण नहीं होता है । ऐसा यह सामर्थ्यवाला कालचक्र है, और इसमें (विश्वा भुवनानि आतस्थुः) सब भुवन रहे हैं । सभी की आयु इस कालचक्रसे गिनी जाती है । जो ज्ञानी हैं (अक्षण्वान् पश्यत्, न अन्धः) जिसके आंख उत्तम हैं, वह इस बातको देख सकता है, परंतु जो अन्धा होगा, वह कैसे देख सकेगा ?

यः कविः स आचिकेत, यः ता विजानात्,
सः पितुः पिता असत् । (मं० १५)

"जो कवि है वही यह सब ज्ञान प्राप्त करता है, और जो इस ज्ञानको यथावत् जानता है वह पिताका भी पिता होता है । " अर्थात् उसकी योग्यता बहुतही बडी होती है । वह मानो मुक्त होता है । यहां एक आश्चर्य है कि—

स्त्रियः सतीः ताँ उ पुंसः आहुः । (मं० १५)

" कई स्त्रियां होती हुई उनको पुरुष कहा जाता है " ऐसा ही जगतमें व्यवहार हो रहा है । मनुष्योंमें भी कईयोंको पुरुष और कईयोंको स्त्रियां कहा जाता है, परंतु आत्माकी दृष्टिसे सब एक जैसे हैं और शरीरकी दृष्टिसे भी सब एक जैसे ही हैं । अतः न कोई स्त्री है और न कोई पुरुष है । वस्तुतः आत्मा पुरुष है और सब प्रकृति स्त्री है । जीवात्मा तो स्त्रीशरीरमें भी जाता है और पुरुषशरीरमें भी जाता है । यह सत्य सिद्धांत होता हुआ भी जगतमें भ्रमसे स्त्रीपुरुष व्यवहार चलही रहा है । इस वर्णनके पश्चात् सोलहवे मंत्रमें पुनः कालचक्रका और एक प्रकारसे वर्णन करते हैं—

षट् यमाः एकः एकजः देवजाः ऋषयः । (मं० १६)

" देवतासे उत्पन्न हुए ऋषि हैं, उनमें छः जुडे हैं और एक अकेला है । " छः ऋतु प्रत्येक दो दो मासोंवाला होता है और तेरहवें मासका ऋतु होता है वह अकेला हि एक होता है । ये सब ऋतु सूर्य देवसे उत्पन्न होते हैं और (ऋषयः=रश्मयः) सूर्यकिरणोंके संबन्धसे इनमें उष्णताकी न्यूनाधिकता होती है । अतः इन ऋतुओंको (सप्तथं) सात प्रकारके हैं ऐसा कहा जाता है । आगे सतरहवे मंत्रमें प्रकृतिरूपी गौका वर्णन है, यह अद्भुत गौ अपने सूर्यादि बच्चोंको साथ लेकर कहां रहती, क्या करती, और अपने पदसे बच्चेको किस प्रकार धारण करती है, इत्यादि कहा है वह

यद्यपि संदिग्धसा है, तथापि पूर्वस्थान के वर्णनका विचार और मनन करनेसे कुछ बोध हो सकता है ।

इसके आगेके मंत्रोंका विवरण सबसे प्रथम हो चुका है । अतः उनका अधिक विचार फिर करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

इस प्रकार इस सूक्त की संगति है । आत्मा, परमात्मा, काल और विश्वके सब भूत इनका सुन्दर वर्णन यहां है । पाठक इन मन्त्रोंका मनन करें और आध्यात्मिक आशय जानें । इस सूक्त का संबन्ध अगले सूक्तसे है, अतः उनका मनन अब करें—

एक आत्माके अनेक नाम ।

[१०]

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता–गौः, विराट्, अध्यात्मम्)

[१५] (१०) यद् गा॑य॒त्रे अधि॑ गाय॒त्रमाहि॑तं त्रैष्टु॑भं वा॒ त्रैष्टु॑भान्नि॒रत॑क्षत ।
यद्वा॒ जग॒ज्जग॒त्याहि॑तं प॒दं य इ॒त् तद् वि॒दुस्ते अ॑मृत॒त्वमा॑नशुः ॥ १ ॥

अर्थ— (यत्) जो (गायत्रे) गायत्रमें (गायत्रं अधि आहितं) गायत्र रखा है । और (त्रैष्टुभात् वा त्रैष्टुभं) त्रैष्टुभसे त्रैष्टुभ की (निरतक्षत) रचना की है, (यत् वा) अथवा जो (जगत् जगति आहितं) जगत् जगतिमें रखा है, (ये इत) जो (यत् पदं विदुः) इस पदको जानते हैं (ते अमृतत्वं आनशुः) अमरत्वको प्राप्त करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— गायत्री, त्रिष्टुप् और जगति आदि छंदों में जो महत्त्वपूर्ण ज्ञान रखा है, उस ज्ञानको जो जानते हैं, वे अमृतत्व—मोक्ष—को प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम् ।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाक्षरेण मिमते सप्त वाणीः ॥ २ ॥

जगता सिन्धुं दिव्यस्कभायद् रथन्तरे सूर्यं पर्यपश्यत् ।
गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुस्ततो मह्ना प्र रिरिचे महित्वा ॥ ३ ॥

अर्थ-(गायत्रेण अर्क प्रतिमिमीते) गायत्री छन्दसे अर्चनीय देवका प्रतिमापन अर्थात् गुणवर्णन करता है. (अर्केण साम) अर्चनीय देवताके द्वारा साम अर्थात् शान्तिको प्राप्त करता है । (त्रैष्टुभेन वाक्) त्रिष्टुप् छन्दसे वाणीका मापन करता है और (वाकेन वाकं) वाणीसे वर्णन करता है । इस प्रकार (द्विपदा चतुष्पदा सप्त वाणीः अक्षरेण मिमते) दो चरणों और चार चरणोंवाले सात छन्दोंको अक्षरोंकी गिनतीसे गिनते हैं ॥ २ ॥

(जगता सिन्धुं दिवि अस्कभायत्) जगति छन्द द्वारा समुद्रको द्युलोकमें थाम रखा है, द्युलोकका समुद्रके समान वर्णन किया है । (रथन्तरे सूर्यं परि अपश्यत्) रथन्तरमें सूर्यका दर्शन किया है, सूर्यका वर्णन है । (गायत्रस्य तिस्रः समिधः आहुः) गायत्री छन्द की तीन समिधायें— तीन पाद— हैं ऐसा कहते हैं । (ततः मह्ना महित्वा प्रारिरिचे) उससे बडी महिमासे संयुक्त होता है ॥ ३ ॥

भावार्थ— गायत्री छन्दसे पूज्य ईश्वरका वर्णन होता है, इसकी उपासनासे शान्ति प्राप्त होती है । त्रिष्टुप् छन्दसे भी उसी वर्णनीय देवका वर्णन होता है और इसी तरह दो चरण और चार चरणोंवाले सब छंदोंसे यही वर्णन होता है । ये सातों छन्द अक्षरोंकी गिनतीसे मापे जाते हैं ॥ २ ॥

जगति छन्दसे उसका वर्णन है कि जिसने इस द्युलोकको आधार दिया है । रथन्तर साम मंत्रसे सबके प्रकाशक सूर्यका वर्णन होता है । गायत्री छन्दमें तीन पाद होते हैं और उस छन्दमें महत्त्वपूर्ण ज्ञान भरा रखा है ॥ ३ ॥

उप॑ ह्वये सु॒दुघां॑ धे॒नुमे॒तां सु॒हस्तो॑ गो॒धुगु॒त दो॑हदेनाम् ।
श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विषन्नो॒ऽभी॑द्धो घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र वो॑चत् ॥ ४ ॥
हि॒ङ्कृ॒ण्व॒ती व॑सुप॒त्नी वसू॑नां व॒त्समि॒च्छन्ती॒ मन॑सा॒भ्यागा॑त् ।
दु॒हाम॒श्विभ्यां॒ पयो॑ अ॒घ्न्येयं सा व॑र्धतां मह॒ते सौभ॑गाय ॥ ५ ॥
गौर॑मीमेद॒भि व॒त्सं मि॒षन्तं॑ मू॒र्धानं॒ हिङ्ङ॑कृणो॒न्मात॒वा उ॑ ।

अर्थ-(सुहस्तः एतां सुदुघां धेनुं उपह्वये) उत्तम हाथवाला मैं इस सुखसे दोहने योग्य धेनुको बुलाता हूं। (उत गोधुक् एनां दोहत्) और गायका दोहन करनेवाला इसका दोहन करे। (सविता श्रेष्ठं सवं नः साविषत्) सबका उत्पन्न करनेवाला सविता यह श्रेष्ठ अन्न हमें देवे। (अभीद्धः घर्मः तत् उ सु प्रवोचत्) प्रदीप्त तेजरूपी दूध यही बता देवे ॥ ४ ॥

(हिंकृण्वती वसूनां वसुपत्नी) हीँ हीँ करनेवाली ऐश्वर्योंका पालन करनेवाली (मनसा वत्सं इच्छन्ती) मनसे बछडे की इच्छा करनेवाली (नि आगात्) समीप आगई है। (इयं अघ्न्या अश्विभ्यां पयः दुहां) यह अवध्य गौ दोनों अश्विदेवोंके लिये दूध देवे। (सा महते सौभगाय वर्धतां) और वह बडे सौभाग्य के लिये बढे ॥ ५ ॥

(गौः मिषन्तं वत्सं अभि अमीमेत्) गाय उत्सुक बछडेको चारों ओरसे प्रेम करती है। और (मातवै उ मूर्धानं हिंङकृणोत्) मान्यताके लिये अपने सिरको हिंकारसे युक्त करती है। (सृक्काणं घर्मं वावशाना)

भावार्थ- मैं उत्तम स्वच्छ हाथोंसे युक्त होकर इस अमृत-मोक्ष-रूपी दूधको देनेवाली ज्ञानमयी वाणीरूप धेनुकी प्रार्थना करता हूं। जो इस गायका दोहन करना जानता है वही इसका दोहन करे। सबका उत्पादक देव हमें यह ज्ञानरूपी अन्न देवे और इससे प्रकाशमय यज्ञरूपी धर्म हमारे द्वारा सिद्ध होवे ॥ ४ ॥

हिंकारसे युक्त और मनमें शिष्यरूपी वत्सकी कामना करती हुई यह दिव्यज्ञानपूर्ण वेदवाणीरूपी गौ हमारे पास आगयी है। यह अवध्य गौ हमें अमृत जैसा ज्ञानरूपी दूध देवे और हमारा महान् सौभाग्य बढावे ॥ ५ ॥

यह गौ उसी बच्चेको दूध देती है जो बच्चा उत्सुक है। उसीको यह

सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः ॥ ६ ॥
अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता ।
सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यान् विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत ॥ ७ ॥
अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम् ।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ॥ ८ ॥

उत्पादक उष्णताको चाहती हुई (पयोभिः मायुं अभिमिमीते पयते) दूधके साथ प्रकाशको चारों ओर फैलती और साथ साथ दूध भी देती है ६॥

(अयं सः शिङ्क्ते) यही वह शब्द करता है । (येन अभीवृता गौः) जिससे संयुक्त हुई गौ उसीमें (ध्वसनौ अधिश्रिता) प्रलयमें आश्रित होती हुई (मायुं मिमाति) प्रकाशका मापन करती है । (सा चित्तिभिः मर्त्यान् नि चकार) वह चिन्तनशक्तियोंके साथ मनुष्योंको युक्त करती है और (विद्युत् भवन्ती वव्रिं प्रति औहत) बिजलीके समान चमकदार होकर उत्तम रूपको प्राप्त होती है ॥ ७ ॥

(पस्त्यानां मध्ये) लोगोंके बीचमें (ध्रुवं एजत जीवं) स्थिर चालक जीव (तुरगातु अनत् शये) तीव्र गतिमान प्राणशक्तिवाला होकर रहता है । यह (मृतस्य जीवः) मरे मनुष्य का जीव (अमर्त्यः) स्वयं अमर होता हुआ भी (मर्त्येन सयोनिः) मर्त्य शरीरके साथ समान योनिमें प्रविष्ट होकर (स्व-धाभिः चरति) अपनी धारक शक्तियोंसे चलता है ॥ ८ ॥

अनुकूल रहती है । यह यज्ञरूप धर्मको फैलाना चाहती है और जो यज्ञरूप जीवन बनाता है उसीको अपने अमृतरसधाराओंसे पुष्ट करती है ॥ ६ ॥

यही वह एक शब्द है, जिससे युक्त हुई यह वाणीरूपी धेनु प्रलय-कालमें भी-- अर्थात् मृत्युके अनंतर भी-- प्रकाश देती है । यह मनन-शक्तियोंसे मनुष्योंको युक्त करती है और विद्युतके समान विशेष प्रकाश देकर मार्ग बताती है ॥ ७ ॥

मनुष्योंके शरीरमें एक जीव है, जो स्थिर है तथापि चलानेवाला है यह शीघ्रगति है, और प्राणको भी अपने साथ शरीरमें रखता है । यही जीव इस शरीरमें रहता है । मरे हुए मनुष्यका यह जीव स्वयं

विधुं दद्राणं सलिलस्य पृष्ठे युवानं सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान ॥ ९ ॥
य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिरा विवेश ॥ १० ॥ (२६)

अर्थ-(सलिलस्य पृष्ठे)प्रकृतिसमुद्रकी पीठपर (दद्राणं विधुं) गतिमान विधान-कर्म कर्ता (युवानं सन्तं) युवा सत पदार्थको (पलितः जगार) एक वृद्ध निगलता है। (देवस्य पश्य काव्यं) ईश्वरका यह काव्य देख। (महित्वा) महिमासे जो (ह्यः सं आन) कल प्राण धारण करता था। (सः अद्य ममार) वह आज मरगया ॥ ९ ॥

(यः ईं चकार) जो करता है, (सः अस्य न वेद) वह इसको जानता नहीं। (यः ईं ददर्श) जो देखता है (तस्मात् हिरुग् इत् नु) उसके नीचे हि वह है। (सः मातुः योनौ अन्तः परिवीतः) वह माताकी योनीके अन्दर परिवेष्टित होकर (बहुप्रजा निर्ऋतिः आविवेश) बहुत संतान उत्पन्न करनेवाली इस प्रकृतिमें प्रविष्ट होता है ॥ १० ॥

अमर है, इसलिये वह अपनी निजशक्तीसे चलता है और दूसरे मर्त्य देहको धारण करनेके लिये किसी योनिमें देह धारण करता है ॥ ८ ॥

इस प्राकृतिक संसारसागरमें यह जीव प्रगति करता है और विशेष कर्म भी करता है। यह जीवात्मा युवा होता हुआ भी यह दूसरे बडे वृद्ध परमात्माके अन्दर प्रविष्ट होता है। यह उस देवकी काव्यमय शक्ति देखने योग्य है। जो जीव कल जीवित होता है वही आज मरता है [और पश्चात् दूसरा शरीर भी धारण करता है] यह सब उस देव की महिमा है ॥ ९ ॥

जो कर्ममार्गी कर्म करता है, वह इस देवके महत्त्वको नहीं जानता। परंतु जो ज्ञानमार्गी इस देवका साक्षात्कार करता है, उसके नीचे अर्थात् उसके अन्दरहि वह देव उसको दीखता है। यह जीव दूसरा शरीर धारण करनेके लिये जब माताके गर्भमें प्रविष्ट होता है, तब बहुत संतान [illegible] करनेवाली प्रकृति उसको घेरती है और इस प्रकार उसको नया [illegible]रीर मिलता है ॥ १० ॥

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥ ११ ॥
द्यौर्नः पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्नो माता पृथिवी महीयम् ।
उत्तानयोश्चम्वो३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥ १२ ॥
पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि वृष्णो अश्वस्य रेतः ।

अर्थ-(गो-पां अनिपद्यमानं) इंद्रियोंका रक्षक पतनको न प्राप्त होनेवाले (पथिभिः आ च परा च चरन्तं) अपने मार्गोंसे पास और दूर जानेवालेको (अपश्यं) मैंने देखा। (सः सध्रीचीः) वह साथ विराजमान है, (सः विषूचीः) वह सर्वत्र है, वह (भुवनेषु अन्तः वसानः) भुवनोंके अन्दर बसता हुआ (आ वरीवर्ति) बारंबार आवर्तन करता है ॥ ११ ॥

(द्यौः नः पिता जनिता) प्रकाशक देव हमारा रक्षक और उत्पादक है, वही (नाभिः) हमारा मध्य है और (नः बन्धुः) हमारा बन्धु है। तथा (इयं मही पृथिवी माता) यह बडी पृथिवी माता है। (उत्तानयोः चम्वोः योनिः अत्र) ऊपर चौडे मुखवाले इन दो बर्तनोंका मूल उत्पत्तिस्थान यहां ही है। यहां (पिता दुहितुः गर्भं आधात्) पालक दूर स्थित प्रकृतिमें गर्भकी स्थापना करता है ॥ १२ ॥

(पृथिव्याः परं अन्तः त्वा पृच्छामि) पृथ्वीका परला अन्त कौनसा है यह मैं तुझे पूछता हूं। (वृष्णः अश्वस्य रेतः पृच्छामि) बलवान अश्वके

भावार्थ- यह जीवात्मा इंद्रियोंका रक्षक है और स्वयं पतनशील नहीं है। यह शरीरमें आता है और शरीरसे दूर भी जाता है। वह परमात्मा इसके साथ है, सर्वत्र व्याप्त है और सब पदार्थोंमें विराजमान है ॥ ११ ॥
वह परमात्मा द्यु अर्थात् सूर्यके समान प्रकाशमान है, वही हम सब का पिता, जनक, बन्धु, और केन्द्र है। यह पृथ्वी अर्थात् प्रकृति हमारी बडी माता है। यह पिता इस दुहिता रूपी प्रकृतिमें गर्भका आधान करता है जिससे सब सृष्टी उत्पन्न होती है। इन दोनों प्रकृति पुरुषमें सबका उत्पत्ति स्थान है ॥ १२ ॥
इस पृथ्वीका परला अन्तिम भाग कौनसा है ? बलवान् अश्वका वीर्य

पृच्छामि विश्वस्य भुवनस्य नाभिं पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥ १३ ॥
इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः ।
अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिर्ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥ १४ ॥
न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः सनद्धो मनसा चरामि ।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥ १५ ॥

वीर्यके विषयमें मैं पूछता हूं। (विश्वस्य भुवनस्य नाभिं पृच्छामि) सब भुवनके केन्द्रके विषयमें पूछता हूं। (वाचः परमं व्योम पृच्छामि) वाणीका परम आकाश अर्थात् उत्पत्तिस्थान पूछता हूं॥ १३ ॥

(इयं वेदिः पृथिव्याः परः अन्तः) यह वेदी भूमिका परला अन्त भाग है। (अयं सोमः वृष्णः अश्वस्य रेतः) यह सोम बलवान् अश्वका वीर्य है। (अयं यज्ञः विश्वस्य भुवनस्य नाभिः) यह यज्ञ सब भुवनोंका मध्य है। और (अयं ब्रह्मा वाचः परमं व्योम) यह ब्रह्मा वाणीका परम स्थान है॥ १४ ॥

(न विजानामि यत् इव इदं अस्मि) मैं नहीं जानता कि मैं किसके सदृश हूं। (निण्यः संनद्धः मनसा चरामि) अंदर बंधा हुआ मैं मनसे चलता हूं। (यदा ऋतस्य प्रथमजाः मा अगन्) जब सत्यका पहिला प्रवर्तक मेरे समीप आगया, (आत् इत् अस्याः वाचः भागं अश्नुवे) उसी समय इसके वाणीके भागको मैंने प्राप्त किया॥ १५ ॥

कौनसा है? संपूर्ण जगत्का केन्द्र कौनसा है? और वाणीका परम उत्पत्तिस्थान कौनसा है?॥ १३ ॥

यही यज्ञकी वेदी इस भूमिका परला अन्तभाग है। बलवान् अश्वका वीर्य यह सोम है। यज्ञ ही सब जगत् का केन्द्र है और यह ब्रह्मा— आत्मा—ही वाणीका परम उत्पत्तिस्थान है॥ १४ ॥

यह आत्मा किसके समान है यह विदित नहीं है। यह आत्मा इस शरीरमें बद्ध होकर रहा है परंतु मनसे बडी हलचल करता है। जिस समय सत्यधर्मका पहिला प्रवर्तक परमात्माको प्राप्त होता है, उसी समय इस दिव्य मंत्रकी वाणीका भाग्य इसको प्राप्त होता है॥ १५ ॥

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ॥१६॥
सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि ।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः ॥ १७ ॥
ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।

अर्थ-(अमर्त्यः मर्त्येन सयोनिः) अमर आत्मा मरणधर्मवाले शरीरके साथ एक उत्पत्तिस्थानमें प्राप्त होकर (स्वधया गृभीतः अपाङ् प्राङ् एति) अपना धारणा शक्तिसे युक्त होकर नीचे तथा ऊपर जाता है । (ता शश्वन्ता विषूचीना) वे दोनों शाश्वत रहनेवाले, विविध गतिवाले परंतु (वियन्ता) विरुद्ध गतिवाले हैं उनमेंसे (अन्यं निचिक्युः) एकको जानते हैं और (अन्यं न निचिक्युः) दूसरेको नहीं जानते ॥ १६ ॥

(भुवनस्य रेतः सप्त अर्धगर्भाः) सब भुवनोंका वीर्य सात अर्ध गर्भमें परिणत होकर (विष्णोः प्रदिशा विधर्मणि तिष्ठन्ति) व्यापक देवकी आज्ञामें रहकर विशेष गुणधर्मोंमें ठहरते हैं । (ते धीतिभिः मनसा) वे बुद्धि और मनसे युक्त होकर तथा (ते विपश्चितः परिभुवः) वे ज्ञानी और सर्वत्र उपस्थित होकर (विश्वतः परिभवन्ति) सब ओरसे घेरते हैं ॥ १७ ॥

(परमे व्योमन्) परम आकाशमें उत्पन्न होनेवाले (यस्मिन् ऋचः अक्षरे) जिस मंत्रके अक्षरमें (विश्वे देवाः अधिनिषेदुः) सब देव निवास

भावार्थ-यह आत्मा अमर है तथापि मरण धर्मवाले शरीरके साथ रहनेके कारण विविध योनियोंमें जन्मता है । यह अपनी धारक शक्तिके साथहि शरीरमें आता अथवा शरीरसे पृथक् होता है । ये दोनों शाश्वत हैं और गतिमान भी हैं, तथापि उनकी गतियोंमें अन्तर है । उनमेंसे एक को जानते हैं, परतु दूसरे का ज्ञान नहीं होता है ॥ १६ ॥

सब बने हुए पदार्थोंका मूल बीज सात तत्त्वोंमें है । ये सातों मूल तत्त्व व्यापक परमात्माकी आज्ञामें कार्य करते हैं । ज्ञानी लोग मनसे इस ज्ञानको प्राप्त करके सर्वत्र उपस्थित होनेके समान ज्ञानवान् होते हैं । ॥ १७ ॥

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्ते अमी समासते ॥ १८ ॥
ऋचः पदं मात्रया कल्पयन्तोऽर्धर्चेन चाक्लृपुर्विश्वमेजत् ।
त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तष्ठे तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥ १९ ॥
सूयवसाद् भगवती हि भूया अधा वयं भगवन्तः स्याम ।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥ २० ॥ (२७)

करते हैं, (यः तत न वेद) जो वह बात नहीं जानता वह (ऋचा किं करिष्यति) वेद मंत्र लेकर क्या करेगा ? (ये इत तत् विदुः ते इमे समासते) जो निश्चय से उसको जानते हैं वे ये उत्तम स्थानमें बैठते हैं ॥ १८ ॥

(ऋचः पदं मात्रया कल्पयन्तः) मंत्रके पदको मात्रासे समर्थ बनाते हैं। (अर्धर्चेन एजत् विश्वं चाक्लृपुः) आधे मंत्रसे चलनेवाले जगत को समर्थ करते हैं। इस प्रकार (त्रिपात् ब्रह्म पुरुरूपं वि तस्थे) तीन पादोंवाला ज्ञान बहुतरूपोंसे ठहरा है। (तेन चतस्रः प्रदिशः जीवन्ति) उसीसे चारों दिशाएं जीवित रहती हैं ॥ १९ ॥

हे (अघ्न्ये) न मारने योग्य गौ ! तू (सु-यवस-अद् भगवती हि भूयाः) उत्तम घास खानेवाली भाग्यशालिनी हो। (अधा वयं भगवन्तः स्याम) और हम भाग्यवान् होंगे। (विश्वदानीं तृणं अद्धि) सर्वदा तृण भक्षण कर और (आचरन्ती शुद्धं उदकं पिब) भ्रमण करती हुई शुद्ध जल पी ॥ २० ॥

भावार्थ-इस बडे आकाशमें शब्द उत्पन्न होता है, उस शब्दसे बननेवाली ऋचाके अक्षरमें अनेक देवताओंका निवास होता है। जो मनुष्य इस बातको नहीं जानता, वह केवल मंत्रको लेकर क्या करेगा ? परंतु जो इस तत्त्वको जानते हैं, वे परम पदमें जाकर विराजमान होते हैं ॥ १८ ॥

मंत्रोंके पाद मात्राओंकी संख्यासे गिनते हैं। इस मंत्रके आधे भागसे भी संपूर्ण चेतन और विश्व सामर्थ्यवान् बनता है। यह त्रिपाद् ब्रह्म अनेक रूपोंमें ठहरा है और इसीसे चारों दिशाउपदिशाओंका जीवन होता है ॥ १९ ॥

हे अवध्य वाक्रूपी गौ ! तू अर्थात तुम्हारा प्रयुक्तकर्ता वक्ता उत्तम

गौरिन्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्याः समुद्रा
अधि वि क्षरन्ति ॥ २१ ॥
कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यूदुः ॥ २२ ॥

अर्थ-(गौः इत् सलिलानि तक्षती) गौ निश्चयसे जलोंको हिलाती हुई (मिमाय) शब्द करती है। (सा एकपदी द्विपदी चतुष्पदी) वह एक पादवाली, दो पादवाली, चार पादवाली, (अष्टापदी नवपदी) आठ पादवाली, नौ पादवाली, (बभूवुषी) बहुत होने की इच्छा करनेवाली (सहस्र-अक्षरा) हजारहां अक्षरोंवाली (भुवनस्य पंक्तिः) भुवनकी पंक्ति है। (तस्याः समुद्राः अधि विक्षरन्ति) उससे सब समुद्रके रस बहते हैं ॥ २१ ॥

(अपः वसानाः) जलको अपने साथ लेते हुए (सुपर्णाः हरयः) उत्तम गतिशील सूर्यकिरण, (कृष्णं नियानं दिवं) सबका आकर्षण करनेवाले सबके यान रूप सूर्यको (उत्पतंति) चढते हैं। (ते ऋतस्य सदनात्) वे जलके स्थानरूप अन्तरिक्षसे (आववृत्रन्) नीचे आते हैं (आत् इत् घृतेन पृथिवीं वि ऊदुः) और जलसे भूमिको भिगाते हैं ॥ २२ ॥

सात्विक अन्नसे उत्तम भाग्ययुक्त होवे। और तेरे भाग्यसे हम भी भाग्ययुक्त बनें। सर्वदा शुद्ध अन्न और जलका सेवन कर ॥ २० ॥

यह वाक्रूपी गौ अर्थात् काव्यमयी वाक् एक, दो, चार, आठ अथवा नौ पदोंवाले छन्दोंमें विभक्त हुई है। यह अनेक प्रकारकी है और हजार अक्षरातक इसकी मर्यादा है। यह मानो सब भुवनोंको पूर्ण करनेवाली है और इससे विविध रस स्रवते हैं ॥ २१ ॥

सूर्यकिरण अपने साथ जलको उठाते हैं, वह जल उनके साथ ऊपर मेघमंडलमें पहुंचता है, वहांसे फिर वृष्टीद्वारा वह नीचे आता है और भूमिको भिगाता है ॥ २२ ॥

अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद् वां मित्रावरुणा चिकेत ।
गर्भो भारं भरत्या चिदस्या ऋतं पिपर्त्यनृतं नि पाति ॥ २३ ॥
विराड् वाग् विराट् पृथिवी विराडन्तरिक्षं विराट् प्रजापतिः ।
विराण्मृत्युः साध्यानामधिराजो बभूव तस्य भूतं भव्यं वशे
स मे भूतं भव्यं वशे कृणोतु ॥ २४ ॥
शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण ।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ॥ २५ ॥

अर्थ- (पद्वतीनां प्रथमा अपात् एति) पांववाली प्राकृत मूर्तियोंमें सबसे प्रथम स्थानमें रहनेवाली शक्ति पादरहित है। हे मित्र और वरुणो! (वां कः तत् चिकेत) तुम दोनोंमेंसे कौन उसको जानता है? (गर्भः अस्याः भारं आभरति चित्) गर्भमें रहनेवाला इस प्रकृति का भार उठाता है। वही (ऋतं पिपर्ति) सत्यकी पूर्णता करता है और (अनृतं नि पाति) असत्यका नाश करता है ॥ २३ ॥

विराट् वाणी, पृथिवी, अन्तरिक्ष, प्रजापति और मृत्यु है। वही विराट् (साध्यानां अधिराजः बभूव) साध्योंका अधिराजा है। (तस्य वशे भूतं भव्यं) उसके आधीन भूत और भविष्य है। (सः मे वशे भूतं भव्यं कृणोतु) वह मेरे आधीन भूत और भविष्य करे ॥ २४ ॥

(विषूवता परः आरात् अवरेण) अनेक रूपोंसे बहुत दूर और पास भी (एना शकमयं धूमं अपश्यं) इस शक्तिवाले धूएका मैंने देखा। वहां (वीराः पृश्निं उक्षाणं अपचन्त) वीर छोटे उक्षाको परिपक्व बना रहे थे। (तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्) वे धर्म प्रथम थे ॥ २५ ॥

भावार्थ- पांववाले शरीरोंका चालक पांवरहित आत्मा है। कौन इस चालक आत्माको जानता है? वह चालक आत्मा इस स्थूल का सब भार सहन करता है और सत्यकी रक्षा करके असत्यका नाश करता है ॥ २३ ॥

इस विराट् आत्माका रूप वाणी, भूमि, अन्तरिक्ष, प्रजापालक, और प्रजासंहारक मृत्यु भी है। यह सबका राजाधिराज है और इसीके आधीन सब भूत भविष्य वर्तमान है। वह मेरे आधीन सब भूत भवि-ष्य वर्तमानको करे ॥ २४ ॥

त्र्यः केशिनं ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम् ।
विश्वमन्यो अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ॥ २६ ॥
चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥ २७ ॥
इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ २८ ॥ (२८)

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

॥ नवम काण्डं समाप्तम् ॥

अर्थ-(त्र्यः केशिनः ऋतुथा विचक्षते) तीन किरणवाले पदार्थ ऋतुके अनुसार दिखाई देते है । (एषां एकः संवत्सरे वपते) इनमें से एक वर्षमें एकवार उपजता है । (अन्यः शचीभिः विश्वं अभिचष्टे) दूसरा शक्तियोंसे विश्वको प्रकाशित करता है (एकस्य ध्राजिः ददृशे) एककी गति दीखती है परंतु उसका (रूपं न) रूप नहीं दीखता ॥ २६ ॥

(वाक् चत्वारि पदानि परिमिता) वाणीके चार स्थान परिमित हुए हैं । (ये मनीषिणः ब्राह्मणाः) जो ज्ञानी ब्राह्मण हैं वे (तानि विदुः) उनको जानते हैं । उनमेंसे (त्रीणि गुहा निहिता) तीन गुप्त स्थानमें रखे हैं वे (न इंगयन्ति) नहीं प्रकट होते । (मनुष्याः वाचः तुरीयं वदन्ति) मनुष्य वाणीके चतुर्थ रूपको बोलते हैं ॥ २७ ॥

(एकं सत्) एक सत् वस्तु है उसीका (विप्राः बहुधा वदन्ति) ज्ञानी लोग अनेक प्रकार वर्णन करते है । उसी एक को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य सुवर्ण, गरुत्मान्, यम और मातरिश्वा (अथो आहुः) कहते है ॥२८॥

भावार्थ-पास और बहुत दूर भी मैंने धूवेको देखा और उससे अग्निका अनुमान किया । उसी अग्निपर वीर लोग छोटे उक्षाको परिपक्व बनाते हैं । ये यज्ञकर्म सबसे प्रारंभमें होते थे ॥ २५ ॥

तीन देव किरणोंवाले अर्थात् प्रकाशमान हैं । इनमेंसे एक वर्षमें एक समय प्रकाशता है, दूसरा अपनी निज शक्तियोंसे सब विश्वको प्रकाशित करता है और तीसरेकी केवल गति प्रतीत होती है परंतु उसका रूप नहीं दिखाई देता ॥ २६ ॥

भावार्थ- वाणीके चार स्थान हैं इनको मननशील ब्रह्मज्ञानी जानते हैं, इनमेंसे तीन स्थान हृदयमें गुप्त हैं और जो मनुष्य बोलते हैं वह चतुर्थ स्थानमें उत्पन्न व्यक्त वाणी है ॥ २७ ॥

सत्य तत्त्व केवल एकहि है, परंतु ज्ञानी लोग उसी एक सत्य तत्त्वका वर्णन गुणबोधक अनेक नामोंसे करत हैं। उसी एक सत्य तत्वको वे इन्द्र, मित्र, वरुण आदि भिन्न भिन्न नाम देते हैं ॥ २८ ॥

छन्दोंका महत्त्व।
वाणी और गोरक्षण।

गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती आदि सात छंद मुख्य हैं। इनके भेद और बहुतही हैं। इन सात छन्दोंमें वेदका ज्ञान भरा रखा है, इसीलिये कहा है कि अज्ञानका आच्छादन करके ज्ञानका प्रकाशन करनेवाले ये छंद हैं। इन छन्दोंमें किस प्रकारका ज्ञान है इस विषयमें थोडासा विवरण प्रथम मंत्रमें है। उसमें कहा है—

(गायत्रे गाय-त्रं) गायत्री छन्दमें (गाय) प्राणोंकी (त्रं) रक्षा करनेका ज्ञान है। जो लोग गायत्री छंदवाले मंत्रोंका उत्तम अध्ययन करेंगे, वे प्राणरक्षा करनेकी विद्या उत्तम रीतिसे जान सकते हैं। (त्रैष्टुभात्) त्रिष्टुप् छन्दमें (त्रै-ष्टुभं) तीनोंका अर्थात् प्रकृति, जीवात्मा और परमात्माका गुणवर्णन है, इस कारण जो लोग त्रिष्टुप् छन्दोंवाले मंत्रोंका उत्तम अध्ययन करेंगे उनको प्रकृतिविद्या, आत्मविद्या और ब्रह्मविद्याका ज्ञान हो सकता है और वे प्रकृतिविद्यासे ऐहिक सुख और आत्मविद्यासे अमृतत्वकी प्राप्ति कर सकते हैं। इस प्रकार यह वेदमंत्रोंकी विद्या इहपरलोकके सुखका साधन होती है।

(जगति जगत्) जगति छन्दमें जगत् संबंधी अद्भुत ज्ञान भरा है। जो ज्ञान प्राप्त करनेसे मनुष्य इस जगत्में विजयी हो सकता है। इसीलिये इसी मंत्रमें आगे कहा है कि—

य इत् तत् विदुः ते अमृतत्वं आनशुः। (मं० १)

" जो ज्ञानी इस ज्ञनको— इस वैदिक ज्ञानको—यथावत् जानते हैं, वे अमृतको अर्थात् मोक्षको प्राप्त करते हैं। " उक्त प्रकार छंदोविद्याको जाननेवाले मोक्षके अधिकारी होते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे केवल मोक्षकेहि अधिकारी हैं और इस जगत्की उन्नतिको वे नहीं प्राप्त कर सकते, प्रत्युत वे जागतिक उन्नतिको जैसे प्राप्त

होते हैं इसी प्रकार आत्मिक उन्नतिको भी वे प्राप्त होते हैं । जो मोक्षके अथवा अमृतत्वके अधिकारी होते हैं वे सामान्य भौतिक उन्नतिको प्राप्त कर सकते हैं यह कहनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि श्रीकृष्ण भगवान्, राजा जनक, श्रीरामचन्द्र आदि मुक्त पुरुष इह लोकका व्यवहार करनेमेंभी उत्तम दक्ष थे और उन्होंने ऐहिक व्यवहार उत्तम तरह किये थे। और ये तो अमृतत्वके अधिकारी थे इस विषयमें किसीको भी संदेह नहीं है। इस प्रकार इस वेदमंत्रोंके ज्ञानको प्राप्त करनेवाले मनुष्य इह परलोकमें परमोच्च गतिको प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य जो इस भूलोकमें देहधारण करके आया है वह अमरत्व प्राप्त करनेके लिये ही है। इसीलिये कहा जाता है कि वेदका ज्ञान प्रत्येक मनुष्यके लिये उन्नतिका मार्ग बतानेमें समर्थ है।

(गायत्रेण अर्कं प्रतिमिमीते) गायत्री छन्दसे अर्चनीय देवकी शब्दरूपी प्रतिमा निर्माण की है। प्रत्येक मनुष्यको जिस एक अद्वितीय देवकी अर्चा करनी अत्यंत आवश्यक है, उस देवकी वस्तुतः प्रतिमा तो नहीं है, परंतु उसकी शब्दमयी प्रतिमा 'गायत्री छंद' है। इस कारण पाठक यदि किसी स्थानपर परमात्म देवकी प्रतिमा देख सकते हैं तो वे इस छन्दमें हि देख सकते हैं।

(अर्केण साम) इस अर्चनीय अर्थात् पूजनीय देवकी सहायतासे 'साम' अर्थात् शान्ति प्राप्त होती है। इस शान्तिका ही दूसरा नाम 'अमृत' है। अमृत और साम एक ही अवस्थाके वाचक शब्द हैं। अस्तु। इसी तरह त्रिष्टुप् छन्दसे भी वर्णनीय देवताका वर्णन किया जाता है। त्रैष्टुभ छन्दकी वाणी उसीका वर्णन करती है। पूर्व मंत्रमें कहा है कि त्रिष्टुप् छंदसे प्रकृति, जीव और परमात्माका वर्णन होता है, वही बात यहां इस मंत्रमें अनुसंधेय है। इस प्रकार—

सात छन्द ।

द्विपदा चतुष्पदा सप्तवाणीः अक्षरेण मिमते । (मं० २)

" दो चरण और चार चरणोंवाले जो सात छन्द हैं, उनके प्रत्येक चरणमें अक्षर संख्याका परिमाण अक्षरोंकी संख्याका गिनती करनेसेहि होता है।" जैसा अनुष्टुभ्‌मे चरणमें आठ अक्षर, इसी प्रकार अन्यान्य छन्दोंके पादोंमें अन्य संख्या अक्षरोंकी होती है। इस प्रकार अक्षर संख्याकी न्यूनाधिकतासे ये छन्द होते हैं।

(गायत्रस्य तिस्रः समिधः) गायत्री छन्दके पाद तीन हैं। प्रत्येकमें अक्षर आठ होते हैं। जगति छंदसे जगत्‌का वर्णन है यह बात प्रथम मंत्रमें कही है, वही फिर इस

तृतीय मंत्रमें दुहराते हैं और कहते हैं कि-(जगता दिवि सिंधुं अस्कमायत्) जगति छन्दसे मानो द्युलोकमें महासागर को फैला रखा है अर्थात् जैसा महासागरका वर्णन होता है वैसा हि द्युलोक का वर्णन किया है। इस महासागर में ये नक्षत्र छोटे छोटे द्वीपोंके समान हैं इत्यादि आलंकारिक वर्णन यहां समझना उचित है।

इसी प्रकार (रथंतरेण सूर्यं पर्यपश्यत्) रथन्तर से सूर्यका ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। क्यों कि उसमें यह वर्णन अतिस्पष्ट है। इस ज्ञानकी (मह्ना महित्वा) महत्ता क्या कथन करनी है, यह ज्ञान तो मनुष्यको अन्तिम मंजलतक पंहुंचा देता है। यह ज्ञान तो मनुष्यको इस जगतमें और उस स्वर्गमें और अन्तमें मोक्षतक उत्तम मार्गदर्शक होता है। अतः यही वेदमंत्रोंका ज्ञान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

सुहस्त गोरक्षक।

जिस प्रकार (सुहस्तः सुदुघां धेनुं उपह्वये) उत्तम हाथवाला उत्तम दोहन करने योग्य धेनुको पुकारता है, उसी प्रकार मनुष्य इस वेदवाणीरूपी कामधेनुको अपने पास बुलावे। गायका दूध निचोडनेवाला ' सुहस्त ' अर्थात् उत्तम प्रेमपूर्ण हाथवाला होना चाहिये। 'दुर्हस्त' नहीं होना चाहिये। दुर्हस्त मनुष्य वह है कि जो गौको कष्ट पहुंचाता है, ऐसा दुर्हस्त मनुष्य कभी गायको अपने पास न बुलावे। परंतु जो हाथ सदा गायकी सेवाके लिये तत्पर रहता है, गायका प्रिय करनेमें जो दक्ष है, वही मनुष्य गायको बुलावे। गौ अवध्य होनेसे गायके साथ किसी प्रकार भी 'दुर्हस्त' का संबंध नहीं आना चाहिये। 'सुहस्त' होकर हि मनुष्य गायके पास जावे, यह वेदका उपदेश स्पष्टतासे कहता है कि 'गोरक्षण' करना मनुष्यका वेदोक्त धर्म है। जो प्रेमसे गोपालन करता है वही सच्चा वैदिकधर्मी है, क्यों कि ' गो ' नाम जैसा गाय का वाचक है वैसाही वह 'वेदवाणी' का भी वाचक है। अतः 'गोरक्षा' का अर्थ 'गायकी रक्षा' और 'वेदज्ञानकी रक्षा' है। इसलिये कहा जाता है कि गोरक्षक हि वैदिक धर्मी हो सकता है।

(गोधुक् एनां दोहत्) गायका दोहन करनेवाला इस गौका और इस वेदवाणीका दोहन करे। गौका दोहन करनेसे अमृत रूपी दूध प्राप्त होता है और वेदवाणीरूपी गायीका दोहन करनेसे अमृत जैसा ज्ञान प्राप्त होता है। गायके दूधसे जैसा यज्ञ होता है, वैसाही वेदज्ञानसे भी होता है। यहां यज्ञ करनेके दोनों साधन हैं। इसी लिये कहा है कि (तद् घर्मः सुप्रवोचत्) यज्ञकाही ये मंत्र वर्णन करते हैं। वेदवाणी-

रूपी गौ अपने ज्ञानसे यज्ञ का मार्ग बतारही है और यह गौ अपने दूध से यज्ञ कराती है। इस तरह दोनों गौवोंकी समानता है।

(वसूनां वसुपत्नी) यह गौ-वेदवाणी और गोमाता – वसुओंकी पालनेहारी है। वसु नाम एश्वर्यका वाचक है। सब प्रकारके ऐश्वर्य ज्ञानसे और बलसेही प्राप्त होते हैं। वेदवाणीरूपी गौसे ज्ञान मिलता और गोमातासे पोषक अन्न मिलता है। इस प्रकार ये दोनों गौवें ऐश्वर्योंका प्रदान करती हैं। जिस प्रकार यह गौमाता अपने (वत्सं इच्छन्ती) बछडेकी इच्छा करती हुई घरमें आती है, उसी प्रकार यह वेदवाणी भी इस भूमंडलपर इसलिये अवतीर्ण होगई है कि ये अनन्त मानवजीव इस ज्ञानामृतका पान करें और अमर बनें। इस प्रकार दोनों गौवोंमें अपने बछडोंके पालन पोषणकी इच्छा है। ये गौवें (महते सौभगाय वर्धतां) हमारा बडा सौभाग्य बढावें। ये तो बढातीं ही हैं। परंतु मनुष्योंको उचित है कि वे उन गौवोंके पास जावें और उनका अमृत रस पीवें और पुष्ट होवें। ये गौवें तो हमारा कल्याण करनेके लिये तैयार हैं, परंतु मनुष्यही ऐसे मंदमती हैं, कि वे गौका दूध नहीं पीते और भैंसके पीछे लगते हैं, इसी तरह वेदवाणीकी शरण नहीं लेते, प्रत्युत किसी अन्य मतवाले ग्रंथोंकी शरणमें जाते हैं और भ्रममें फंसते हैं। अतः यहां उपदेश सब मनुष्योंको लेना चाहिये कि जो मनुष्य उन्नति चाहता है वह गौका दूध पीवे और वेदका उपदेश ग्रहण करे।

गायभी (गौः मिषन्तं वत्सं अमीमेत्) अपने उत्सुक बछडेपरहि प्रेम कर सकती है। यदि प्रेमसे बच्चा माताके पास न गया अथवा कुछ पेटकी अस्वस्थतासे वह दूध न पीता रहा, तो माता क्या करेगी? इसलिये बच्चेमें उत्सुकता चाहिये। जिस बच्चेका पेट ठीक है, भूख अच्छी लगती है और जिसकी पाचनशक्ति ठीक है उसी बच्चेको माताके दूधसे लाभ होता है। इसी प्रकार वेदवाणीरूपी गौभी उत्सुक [illegible] लाभ पहुंचा सकती है। जो मनुष्य वेद न पढे, पढनेपर उसके [illegible] न [illegible], [illegible] अनुष्ठान न करे, अनुष्ठान करनेके समय तत्पर न होवे, उसको वेदवाणी [illegible] क्या लाभ होगा। इस प्रकार मुमुक्षु होना भी आवश्यक है। यह गौ ([illegible] मिमाति) अपने दूधके साथ प्रकाशको फैलाती है, यह बात स्पष्ट है क्योंकि [illegible] दोहन होतेहि सूर्योदय होता है और जिसके [illegible] प्रकाश होता है। वेदवाणी-रूपी गौभी अपना ज्ञानामृत देती है और ज्ञानरूपी प्रकाश [illegible] है। इस प्रकार दोनों गायोंमें दूध देना और प्रकाशको फैलाना समान है।

भी (सक्तुमिव तितउना पुनन्तः ऋ० १०।७१।२) इत्यादि मंत्रोंमें सत्तुका अन्न हि निर्दिष्ट है। इससे इस अन्नका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। गौ जौका घास (तृणं अद्धि) खावे और (शुद्धं उदकं पिब) शुद्ध निर्मल जल पीवे। मनुष्यको भी शुद्ध सत्तु खाना और छाना हुआ वस्त्रपूत जल पीना योग्य है। इस प्रकार गौ और वाणीका एकही पथ्य है। मनुष्यका खानपान सात्त्विक होनेसे उसकी वाणी पवित्र होती है, यह यहां तात्पर्य है। मनुष्य जिस गौका दूध पीते हैं वह गौ भी उक्त पदार्थ ही खावे और अन्य अमेध्य पदार्थोंका भक्षण न करे। इस विचारसे पता लग सकता है कि बाजारोंमें जो दूध प्राप्त होता है वह दूध अमृत नहीं है, प्रत्युत घरमें गौ पाली जाय, उसको मेध्य पदार्थ खिलाये जाय और शुद्ध उदक पिलाया जाय, तब उसका दूध ' अमृत ' पदवीको प्राप्त हो सकता है। वेद जिस प्रकार गोरक्षण करना चाहता है वह विधि यह है। पाठक विचारें और समझें कि वेदमें गोरक्षणका विधि कैसा है।

आगेके मंत्रमें (गौ सलिलानि तक्षति) गौ जलोंको हिलाती है ऐसा कहा है, गौ शुद्ध जलमें प्रविष्ट होनेसे जल हिलने लगता है। वह शुद्ध जल गौ पीती है और तृप्त होती है। यह सामान्य वर्णन करके यह गौ (एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टापदी, नवपदी, सहस्राक्षरा) एक दो चार आठ नौ पाववाली है और सहस्र अक्षरोंसे युक्त है ऐसा जो कहा है वह स्पष्टतया वेदवाणी का ही केवल वर्णन है। वेदके छंद एक चरणवाले, दो चरणोंवाले, चार चरणोंवाले, आठ चरणोंवाले नौ चरणोंवाले और सहस्र अक्षरोंवाले हैं। क्यों कि गाय सदा चतुष्पाद अर्थात् चार चरणोंवाली ही होती है, और कभी आठ और नौ पांववाली नहीं होती। चरण और पाद ये नाम मंत्रोंके भागोंके हैं। इसलिये यह मंत्रभाग वेदवाणी रूपी गौका ही वर्णन कर रहा है। यह वेदवाणी रूपी गौ (सहस्र-अक्षरा) हजारों अक्षय [illegible] धाराओंको प्रदान करती है और (भुवनस्य पंक्तिः) सब भुवनोंको पूर्णतया पावन करती है। ([illegible] समुद्राः अधि विक्षरन्ति) इससे समुद्रके समान [illegible] प्राप्त होते हैं। इसलिये मनुष्योंको उचित है कि वे इस वेदवाणी [illegible] पालन करें और मोक्षमार्गपर चलकर आनंद प्राप्त करें।

यहांतक गौके दर्शनसे, किससे-क्या [illegible] किससे-[illegible] वर्णन किया है। आगे यह दान मनुष्यको [illegible] है वह देखिये —

जीवात्मा।

प्राणियोंके शरीरमें जीवात्मा है और वही यहांका जीवन का कार्य करता है इस विषयमें अष्टममंत्रका विधान देखिये—

पस्त्यानां मध्ये ध्रुवं एजत् जीवं तुरगातु अनत् शये। (मं० ८)

" प्राणियोंके शरीरमें जीवात्मा है वह ध्रुव अर्थात् स्थिर, चालक, वेगवान्, प्राणको चलानेवाला है और वह इस शरीरमें रहता है। " यह शरीरमें शयन करने वाले जीवात्माका वर्णन है। " पुरुष " शब्दके अर्थका " पुरि शेते इति पुरुषः " शरीररूपी नगरीमें शयन करता है इसलिये इस आत्माको ' पुरुष ' (पुरिशय) कहते हैं ऐसा कहा है, वही अर्थ यहां है। इस जीवात्मा के विशेषण " ध्रुव, एजत, जीव, तुरगातु, अनत् " ये विचार करने योग्य हैं। ये विशेषण अन्यत्र भी आगये हैं। जबतक शरीरमें यह जीवात्मा रहता है तबतक उक्त कार्य शरीरमें दिखाई देते हैं। यह शरीरसे भिन्न है अतः शरीर क्षीण और निकम्मा होनेपर शरीरको यह छोड देता है इस विषयमें इसी मंत्रमें कहा है—

मृतस्य जीवः अमर्त्यः स्वधाभिः चरति मर्त्येन सयोनिः। (मं० ८)
अमर्त्यः मर्त्येन सयोनिः अपाङ् प्राङ् एति। (मं० १६)

" मृत मनुष्यका जीव वास्तविक रीतिसे अमर है, वह अपनी निज शक्तियोंसे कार्य करता है और इस देहके छोड देनेके बाद दूसरे मर्त्य देहके साथ संयुक्त होता है। " मनुष्यदेह मरनेवाला है, परंतु उसका आत्मा अमर है, अर्थात् देह भिन्न है और आत्मा भिन्न है। इन दो परस्पर भिन्न पदार्थोंका संयोग किसी कारण वश होगया है। इसी संबंध के कारणका विचार करना इस तत्त्वज्ञानका मुख्य प्रयोजन है। (मृतस्य जीवः अमर्त्यः) मरे हुए प्राणीका जीवात्मा अमर है, यह महासिद्धान्त सदा स्मरण रखना चाहिये। यदि जीवात्मा अमर है तो वह देहप्राप्तिके पूर्व और देहपातके पश्चात् भी रहेगा। देहके मरनेसे न मरेगा और देहके जन्मसे न जन्मेगा। यह जीव अपनी निजशक्तियोंसे रहता है। इस की यह (स्व-धा) निज शक्ति है अतः यह सदा इसके साथ रहती है और कभी दूर नहीं होती। परंतु शरीरकी शक्ति अन्नादि पदार्थों पर अवलंबित है। इसलिये शरीरकी शक्तियोंको ' स्वधा ' नहीं कहते। आत्माकी शक्तिका नाम ' स्वधा ' है क्यों कि किसी बाह्य कारणपर यह अवलंबित नहीं है। शरीर मिला या न मिला तो भी वह इसके साथ एक जैसी रहती है।

पूर्व शरीर छोडनेपर और दूसरा शरीर प्राप्त होनेतक जैसा आत्मा अपनी निज शक्तियोंके साथ विचरता है, उसी प्रकार शरीरमें आनेपर भी उन्हीं शक्तियोंको शरीरमें नियुक्त करके कार्य लेता है। यह अमर होता हुआ भी (मर्त्येन सयोनिः) मर्त्य शरीरके साथ समान योनिमें आता है। अर्थात् जिस योनिमें जिस जातीके प्राणीमें आत्मा जाता है उस जातीकी योनीमें जाकर उस शरीरको प्राप्त होता है। इस मृत्युलोकका जीवन क्षणभंगुर होता है, क्यों कि शरीर कितनी भी रक्षा करनेपर किसी न किसी समय मर ही जायगा, अतः कहा है—

ह्यः सं आन, सः अद्य ममार। (मं० ९)

"जो कल उत्तम प्रकार जीवित था, वह आज मर जाता है।" आज सवेरे जो जीवित होता है वह शामके समय मर जाता है। इस प्रकार पिता, माता, पुत्र, भाई आदि मर रहे हैं, यह देखकर अपनेको भी किसी न किसी समय मरना अवश्य है ऐसा प्रतीत होता है। यद्यपि यह अपना शरीर मरेगा, तथापि इस शरीरका अधिष्ठाता कदापि मरनेवाला नहीं है, यह अमर है, यह न कभी बाल होता है, और न वृद्ध। यह सदा एक अवस्थामें रहता है इसीलिये इसको (युवानं सन्तं) युवा है ऐसा कहते हैं। इस जीवात्माको युवा कहा जाय, तो परमात्माको वृद्ध किंवा पुराण पुरुष कहना योग्य है। इसीका नाम इस मंत्रमें "पलित" अर्थात् श्वेतबाल हुआ वृद्ध कहा है। यह पलित पूर्वोक्त युवाको निगल जाता है। परमात्मा सर्वव्यापक है इस लिये इस एकदेशीय जीवात्माको चारों ओरसे घेरता है इसलिये कहा जाता है कि वह परमात्मा इस जीवात्माको निगल जाता है, अपने पेटमें रखता है। (युवानं संतं पलितः जगार) तरुण को वृद्ध निगल जाता है, इस विधानसे दोनोंके आकारका प्रमाण स्पष्ट होता है। तरुण जीवात्माको वृद्ध परमात्मा निगल जाता है, अतः वह वृद्ध तरुणसे कई गुणा बडा है। यह बात स्पष्ट है।

यह जीवात्मा 'विधु है' अर्थात् कर्मशील है। कर्म करनेवाला है और विविध कर्म करनेके लिये ही शरीर धारण करता है और जब शरीर जीर्ण होनेके कारण कर्म करनेमें असमर्थ होजाता है उस समय यह शरीरको छोडता है और दूसरे समर्थ शरीर धारण करता है। शरीर धारण करनेका हेतु यह है—

सः मातुः योनौ अन्तः परिवीतः बहुप्रजा निर्ऋतिः आविवेश।

(मं० १०)

"वह जीवात्मा जब माताकी योनिमें-गर्भाशयमें-होता है उस समय प्राकृतिक

शरीरसे परिवेष्टित होता है, और पश्चात् अनुकूल समयमें बहुत प्रजा प्रसवनेहारी इस भूमिपर अथवा इस प्रकृतिमें आविष्ट होकर पृथ्वीपर अवतीर्ण होता है।" यहां विवाहादि द्वारा यह अपने संतानादि बहुत बढाता है, वंशका विस्तार करता है और समय आनेपर मर जाता है। फिर इसको ऐसाहि नवीन शरीर मिल जाता है। यह क्रम बारंबार होता है। यह इसका आना और जाना नियमके अनुसार करनेवाला जो कोई है, उसके नियमको यह नहीं जानता—

यः ईं चकार अस्य सः न वेद। (मं० १०)

"जो यह सब करता है, उसके उस कर्तृत्व को यह नहीं जानता।" प्रत्येक मनुष्य इसका विचार करके जान सकता है। अपने आपको यहां किसने लाया, भवितव्य कौन नियत करता है, इत्यादि विषय हरएक मनुष्य जान नहीं सकता। परंतु—

यः ईं ददर्श तस्मात् हिरुग् इत् नु। (मं० १०)

"जो इसको देखता है अर्थात् इसका साक्षात्कार करता है, उसके नीचे हि-उसके अतिसमीप हि-वह विद्यमान रहता है।" उसके लिये वह समीपसे समीप है। परंतु अन्य मनुष्योंके लिये यह बहुत दूर होता है। अर्थात् इसकी दूरता और समीपता मनुष्यके प्रयत्नपर निर्भर है।

यह जीवात्मा (गो-पां) इंद्रियोंका पालन करनेवाला है, अपने शरीरमें जीवन-शक्तिका संचार करके सब शरीरको जीवित रखनेवाला है अतः यह (अनिपद्यमानं) न गिरानेवाला है, शरीर जीवित रखनेके कारण यह शरीरको न गिरानेवाला है। शरीर उठानेवाला और चलानेवाला यही जीवात्मा है। "तनू-न-पात्" यह नाम भी इसी अर्थका सूचक है। (तनु) शरीरको (न) नहीं (पात्) गिरानेवाला आत्मा है, वही भाव "अ-नि-पद्यमान" शब्दमें है। इतना होनेपर भी—

पथिभिः आ च परा च चरन्तं। (मं० ११)

"निश्चित मार्गोंसे पास और दूर जानेवाला" अर्थात् इस शरीरके पास और शरीरसे दूर जानेवाला यह आत्मा है। जन्म लेनेके समय शरीरके पास आता है और शरीरकी मृत्यु होते ही यह शरीरसे दूर जाता है। इस प्रकार इसका पास आना और दूर जाना जिन मार्गोंमे होता है, उन मार्गोंका ज्ञान हमें नहीं हो सकता। वे अदृश्य मार्ग हैं, और परमात्माही इसको उन मार्गोंसे चलाता है। यह परमात्मा—

स सध्रीचीः विषूचीः भुवनेषु अन्तः वसानः। (मं० ११)

"वह परमात्मा इस जीवात्माके साथ रहता है, सर्वत्र विराजमान है और संपूर्ण

पदार्थमात्रमें भी बसनेवाला वह है। " वह किसी स्थानपर नहीं ऐसा कोई स्थान नहीं है। प्रत्येक पदार्थ के अन्दर, बाहर और चारों ओर वह विराजमान है, इस लिये वह इस जीवात्मा को अपने अन्दर लेकर जहां जानेसे इसका कल्याण होगा वहां इसको पहुंचा देता है।

यही देव (नः पिता जनिता नाभिः बन्धुः) हम सबका पिता, जनक, संबंधी और भाई है। (पृथ्वी माता) यह भूमि हमारी मातृभूमि है। इन पिता और माता की उपासना हमको करनी चाहिये। उक्त देवसे जो इस प्रकृतिमातामें गर्भका आधान होता है, उससे सब सृष्टिकी रचना होती है।

प्रश्नोत्तर।

आगे तेरहवें और चौदहवें मंत्रमें क्रमशः कुछ प्रश्न और उनके उत्तर आगये हैं, यह मनोरंजक प्रश्नोत्तरका विषय अब देखते हैं–

प्रश्न – पृथिव्याः परं अन्तः पृच्छामि। (मं० १३)

उत्तर – इयं वेदिः पृथिव्याः परः अन्तः। (मं० १४)

" पृथ्वीका परला अन्तिम भाग कौनसा है ? यह वेदिहि पृथ्वीका परला अन्तिम भाग है। " यज्ञवेदिके पास खडा होकर एक प्रश्न पूछ रहा है कि पृथ्वीका उरला अन्त वह है कि जिसपर हम खडे हैं, परंतु इसका परला अन्त कौनसा है ? यह भूमि कहां समाप्त होगई है ? इस प्रश्नका उत्तर, यह अपने पासका वेदिका भाग हि भूमिकी अन्तिम सीमा है, यह है। उस उत्तरके देखनेसे पता लगता है कि वेदके अनुसार भूमि गोलहि–गेंदके समानहि है। यदि यह भूमि फलकके समान होती तो यह उत्तर जाना संभवहि नहीं है। यदि भूमि गेंदके समान गोल होगी तभी तो जिस बिंदूमें प्रारंभ होगा उसी बिन्दुमें अन्त होनेकी संभावना होगी। पृथ्वी गेंदके समान गोल होनेसे यदि किसी स्थानसे सीधी लकीर खींची जायगी तो उस रेखाका अन्तिम बिंदु प्रारंभिक बिंदुमें हि मिल जायगा। इसी नियमको ध्यानमें रखकर उक्त मंत्रमें कहा है कि पृथ्वीका प्रारंभ इस वेदिमें है और अन्तिम भागभी यही वेदि है। पृथ्वीको गेंदके समान गोल माननेपरही यह बात सिद्ध हो सकती है।

सृष्टीका प्रारंभ यज्ञमें और अन्त भी यज्ञमें हो सकता है। परमेश्वरने यज्ञसे इस सृष्टिका प्रारंभ हुआ है, यज्ञपर ही यह सृष्टि निर्भर है और अन्तमें भी इसकी समाप्ति यज्ञमें हि होगी। इस प्रकार कर्मभूमिका प्रारंभ वेदिमें और अन्त भी यज्ञमें

होता है। इस दृष्टिसे भी यह प्रश्नोत्तर विचार करने योग्य है। अब दूसरा प्रश्न देखिये—

अश्वशक्ति।

प्रश्न– वृष्णः अश्वस्य रेतः पृच्छामि। (मं० १३)

उत्तर– अयं सोमः वृष्णः अश्वस्य रेतः। (मं० १४)

"बलवान अश्वका वीर्य कौनसा है ? यह सोम हि बलवान अश्वका वीर्य है।" अश्ववाचक शब्द वीर्य पराक्रम और बलके सूचक हैं। 'वाजीकरण' शब्दका अर्थ वीर्यवर्धक उपाय है। अश्वशक्ति, अश्वबल, अश्वरेत, अश्ववीर्य (Horse Power) शब्द एकही अर्थके वाचक हैं। बलवती अश्वशक्ति किससे प्राप्त होती है यह प्रश्नका आशय है। इसका उत्तर यह है कि "सोम वनस्पती हि अश्वशक्ति है।" सोमका अर्थ सोमवल्ली, किंवा वनस्पति है। ये वनस्पति ही अश्ववीर्य देनेमें समर्थ हैं।

यहां वेदने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि, शरीर में अश्ववीर्य बढानेकी इच्छा है तो वनस्पतिके सेवन से हि वह बढ सकता है। क्योंकि सोमादि औषधियोंमें हि (अश्वस्य रेतः) अश्ववीर्य है। जो लोग मांसभक्षणके पक्षमें हैं वे यहां वेदके उपदेशसे बोध लें। वेदमें "सोम" को ही अन्न कहा है, मांसको नहीं। सोमको ही अश्ववीर्य कहा है, मांसको नहीं। जिस वाजीकरणके लिये मनुष्य प्रयत्न करता है वह (वाजी) घोडा केवळ घास अर्थात् वनस्पति खाकर हि वाजी बना है, मांस खाकर नहीं बना। अतः स्पष्ट कहा है कि जो बल औषधि वनस्पतिके अन्नमें है, वह मांसमें नहीं है। अतः जो अपना बल बढाना चाहते हैं, वे मांसभक्षण न करें और योग्य वनस्पतियोंका सेवन करके अपना वीर्य बढावें। जो लोग पूछते हैं कि वेदमें मांसभक्षणके लिये अनुकूल संमति है वा प्रतिकूल ? उनको इस प्रश्नोत्तर का विचार करना चाहिये और जानना चाहिये कि, सोमादि औषधियोंका रसरूप अन्नहि वेदानुकूल मनुष्योंको भक्ष्य अन्न है। वेदमें मांसको भक्ष्य अन्न करके कहीं भी कहा नहीं है।

प्रश्न— विश्वस्य भुवनस्य नाभिं पृच्छामि। (मं० १३)

उत्तर— अयं यज्ञः विश्वस्य भुवनस्य नाभिः। (मं० १४)

"सब भुवनोंका केन्द्र कौनसा है ? यज्ञही सब भुवनोंका केन्द्र है।" केन्द्र कहते हैं मध्यबिंदुको, इस मध्यबिंदुपर सब बाह्य रचना रची जाती है। मध्यबिंदुपर ही संपूर्ण चक्रकी स्थिति होती है, यदि मध्यबिंदू अपने स्थानसे च्युत होगया, तो चक्र की शक्ति नष्ट होजाती है। इसलिये इस प्रश्नमें पृच्छा की है कि इस विश्वका केन्द्र

कौनसा है अर्थात् किस केन्द्रपर यह विश्व रहा है ? उत्तरमें कहा है कि इस विश्वका केन्द्र यज्ञ है। अर्थात् यज्ञपर यह सब विश्व स्थिर रहा है। यज्ञ कम हुआ तो यह विश्व नहीं रहेगा। यज्ञ विधिहीन हुआ तो विश्वकी रचना बिघड जायगी। यह बतानेके लिये यहां कहा है कि इस संपूर्ण विश्वकी स्थिति यज्ञपर है। श्रीमद्भगवद्गीतामें

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्। (भ० गी० ३। १०)

इस यज्ञद्वारा तुम वृद्धिको प्राप्त होवो, यह यज्ञ तुम्हें सब कामना देनेवाला होवे। ऐसा जो कहा है उसका कारण यही है कि वह विश्वकी उत्पत्तिका केन्द्र है। संपूर्ण वेदोंमें 'यज्ञ' विषय ही कहा है, इसका भी कारण यह है कि यज्ञ सब विश्वका केन्द्र है, उस केन्द्रको जाननेके लिये सब उत्पन्न हुए हैं। अब अन्तिम प्रश्न देखिये—

प्रश्न— वाचः परमं व्योम पृच्छामि। (मं० १३)

उत्तर—अयं ब्रह्मा वाचः परमं व्योम। (मं० १४)

"वाणीका परम आकाश अर्थात् उत्पत्तिस्थान कहां है ? यह ब्रह्मा हि वाणीका परम उत्पत्तिस्थान है।" आकाश का गुण शब्द है और शब्द आकाशसे उत्पन्न होता है। यहां केवल (वाचः व्योम) वाणीका आकाश पूछा नहीं है, प्रत्युत (वाचः परमं व्योम) वाणीका परम आकाश पूछा है। आकाशका भी जो आकाश होगा इसको परम आकाश कहना योग्य है। अग्निका अग्नि, वायुका वायु, और आकाशका आकाश वह परमात्मा ही है। देवका भी देव वही है। उस आत्मासे आकाश की उत्पत्ति है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। (तै० उ० २। १। १)

"उस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ है" और उस आकाशसे शब्द उत्पन्न होता है। अतः शब्दके आकाशका जो उत्पत्तिस्थान है उसका नाम "परम व्योम" है। यह वाणीका मूल उत्पत्तिस्थान और परम आकाश परमात्मा है। इसी लिये कहते हैं कि वेद परमात्माका निश्वसित है, अर्थात् उसीका यह शब्द है। इसी तरह सामान्य शब्द भी आत्माका शब्द है और यही महा वाणीका परम आकाश है। आत्मा बुद्धिसे मिलकर बोलने की कामना करता है, व मनको प्रेरणा करता है, मन शारीरिक उष्णताको हिलाता है, वह अग्नि वायुको चलाता है, वह उरसे मुखमें आकर स्थानोंमें आघात करता हुआ अनेक शब्द उत्पन्न करता है। इस प्रकार आत्मासे शब्द उत्पन्न होता है। इसीलिये यहां ब्रह्मा को शब्दका महा आकाश कहा है। यह बात स्मरण में रखना चाहिये और शब्दमें आत्माकी शक्ति

है ऐसा मानकर, पवित्र भावना ही शब्दद्वारा उच्चारित करना चाहिये। और कदापि व्यर्थ शब्दोच्चार करके आत्मा की शक्ति क्षीण नहीं करना चाहिये। अस्तु। इस प्रकार प्रश्नोत्तरसे ज्ञान इन दो मंत्रोंमें दिया है। इसके अगले मंत्रमें कहा है कि—

न विजानामि यत् इव इदं अस्मि। (मं० १५)

"मैं नहीं जानता कि किसके समान यह मैं हूं।" प्रत्येक मनुष्य जानता है कि मैं हूं। परंतु मैं कैसा हूं, किसके समान हूं, मेरा गुण धर्म क्या है, मेरा स्वरूप क्या है, इत्यादि बात कोई नहीं जानता। पढे लिखे और शास्त्र देखनेवाले यह कहते हैं कि शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है, परंतु यह आत्मा कैसा है और कमसे कम किसके सदृश है यह क्वचित कोई जानते हैं, प्रायः कोई नहीं जानते। इसीलिये इस आत्माको अज्ञेय, अतर्क्य ऐसे शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं। यह आत्मा जब शरीरमें आता है, उस समय वह—

निण्यः संनद्धः। (मं० १५)

"अन्दर गुप्त है और बंधा है।" यही इसका बंधन है और इस बंधनसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये। यह आत्मा (निण्यः) गुप्त है, छिपा है, ढंका है, अव्यक्त है और बद्ध है। यह इस आत्मा की स्थिति है। हरएक पाठकको इसका विचार करना चाहिये।

इस आत्माको बंधन कैसा होता है, इसकी मुक्ति कैसी होती है और कौन इसकी मुक्ति कर सकता है, यह विषय तत्त्वज्ञानका है। यह विषय इसी मंत्रके उत्तरार्धने इस प्रकार कहा है—

यदा ऋतस्य प्रथमजा आगन्। आत् इत् अस्याः
वाचः भागं अश्नुवे॥ (मं० १५)

"जिस समय सत्यका पहिला प्रवर्तक परमात्मा मेरे सन्मुख हुआ, जब मुझे उसका साक्षात्कार हुआ, उस समय उसकी इस वाणीका–देववाणीका–भाग्य मुझे प्राप्त हुआ। यह एक नियम यहां कहा है। जिस समय परमेश्वर साक्षात्कार होता है, अथवा परम ऋषिका उपदेश होता है, उस समय उसके अन्तःकरणमें सत्य ज्ञानका प्रकाश होता है। यही विद्याका भाग्य है। यह आत्मसाक्षात्कारके विना नहीं हो सकता।

यहां आत्मा शरीर धारण करता है यह 'मर्त्य और अमर्त्य' का संबंध है। अर्थात् ये दो पदार्थ यहां हैं। मर्त्य अमर्त्य नहीं हो सकता और अमर्त्य मर्त्य नहीं हो सकता।

ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता । अन्यं नि चिक्युः ।
अन्यं न निचिक्युः ॥ (मं० १६)

" ये दोनों मर्त्य और अमर्त्य अर्थात् जड और चेतन ये दोनों सनातन शाश्वत हैं, ये सर्वत्र हैं, परस्पर विरुद्ध गुणकर्म स्वभाववाले हैं । इनमेंसे एक को जानते हैं, परंतु दूसरे का ज्ञान नहीं होता । " मर्त्य पदार्थोंका ज्ञान कुछ अंशमें होता है, इस ज्ञानको भौतिक ज्ञान, पदार्थज्ञान किंवा विज्ञान कहते हैं । मनुष्य इसको प्राप्त कर सकते है । परंतु दूसरा जो चेतन आत्मा है जिसमें आत्मा और परमात्मा संमिलित हैं, वह अतर्क्य, अज्ञेय और गूढ हैं ।

जगत्की रचना ।

पूर्वोक्त प्रकार जड और चेतन मिलकर इस जगत्की रचना होगई है । इस विषयमें अगले हि मंत्रमें इस तरह कहा है—

भुवनस्य रेतः सप्त अर्धगर्भाः विष्णोः प्रदिशा विधर्मणि
तिष्ठन्ति । (मं० १७)

" सब सृष्टीके वीर्यसे सात मूलतत्त्व विविधगुण धर्मोंसे युक्त होकर व्यापक परमात्माकी आज्ञामें रहते हैं । " सृष्टि उत्पन्न करनेवाले ये सात मूलतत्त्व हैं, उनके गुणधर्म परस्पर भिन्न है और ये व्यापक ईश्वरकी आज्ञामें कार्य करते हैं । इन सात तत्त्वोंको जानना तथा आत्माको जानना इतनाही ज्ञान है, और यह ज्ञान मनुष्यके उद्धारका हेतु है । इस ज्ञानके विना मनुष्यका उद्धार हो नहीं सकता । ऐसे—

ते विपश्चितः धीतिभिः मनसा परिभुवः विश्वतः परिभवन्ति ॥
(मं० १७)

" वे विशेषज्ञानी अपनी बुद्धियोंसे, कर्मोंसे और मनके विचार से विशेष श्रेष्ठ होकर सब प्रकारसे सर्वोपरि होते हैं । " सबके ऊपर अपना प्रभाव जमाते हैं । सर्वत्र उपस्थित होकर सबको प्रभावित करते हैं । यह कार्य इन ज्ञानियोंसे इसलिये होता है कि इनके पास पूर्वोक्त प्राकृतिक और आत्मिक ज्ञान पूर्णतया रहता है । इस ज्ञानका महत्त्व यह है—

ऋचः अक्षरे विश्वे देवाः अधिनिषेदुः । (मं० १८)

" ऋचाके अक्षरमें सब देव निवास करते हैं । " यह योग्यता वेदमंत्रके ज्ञानकी है । एक वेदमंत्रका ज्ञान होनेका नाम इतनी देवताओंका ज्ञान होना है । वेदका ज्ञान प्रत्यक्ष

है ऐसा मानकर, पवित्र भावना ही शब्दद्वारा उच्चारित करना चाहिये। और कदापि व्यर्थ शब्दोच्चार करके आत्मा की शक्ति क्षीण नहीं करना चाहिये। अस्तु। इस प्रकार प्रश्नोत्तरसे ज्ञान इन दो मंत्रोंमें दिया है। इसके अगले मंत्रमें कहा है कि—

न विजानामि यत् इव इदं अस्मि। (मं० १५)

"मैं नहीं जानता कि किसके समान यह मैं हूं।" प्रत्येक मनुष्य जानता है कि मैं हूं। परंतु मैं कैसा हूं, किसके समान हूं, मेरा गुण धर्म क्या है, मेरा स्वरूप क्या है, इत्यादि बात कोई नहीं जानता। पढे लिखे और शास्त्र देखनेवाले यह कहते हैं कि शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है, परंतु यह आत्मा कैसा है और कमसे कम किसके सदृश है यह क्वचित कोई जानते हैं, प्रायः कोई नहीं जानते। इसीलिये इस आत्माको अज्ञेय, अतर्क्य ऐसे शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं। यह आत्मा जब शरीरमें आता है, उस समय वह—

निण्यः संनद्धः। (मं० १५)

"अन्दर गुप्त है और बंधा है।" यही इसका बंधन है और इस बंधनसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये। यह आत्मा (निण्यः) गुप्त है, छिपा है, ढंका है, अव्यक्त है और बद्ध है। यह इस आत्मा की स्थिति है। हरएक पाठकको इसका विचार करना चाहिये।

इस आत्माको बंधन कैसा होता है, इसकी मुक्ति कैसी होती है और कौन इसकी मुक्ति कर सकता है, यह विषय तत्त्वज्ञानका है। यह विषय इसी मंत्रके उत्तरार्धने इस प्रकार कहा है—

यदा ऋतस्य प्रथमजा आगन्। आत इत् अस्याः
वाचः भागं अश्नुवे॥ (मं० १५)

"जिस समय सत्यका पहिला प्रवर्तक परमात्मा मेरे सन्मुख हुआ, जब मुझे उसका साक्षात्कार हुआ, उस समय उसकी इस वाणीका–देववाणीका–भाग्य मुझे प्राप्त हुआ। यह एक नियम यहां कहा है। जिस समय परमेश्वर साक्षात्कार होता है, अथवा परम ऋषिका उपदेश होता है, उस समय उसके अन्तःकरणमें सत्य ज्ञानका प्रकाश होता है। यही विद्याका भाग्य है। यह आत्मसाक्षात्कारके विना नहीं हो सकता।

यहां आत्मा शरीर धारण करता है यह 'मर्त्य और अमर्त्य' का संबंध है। अर्थात् ये दो पदार्थ यहां हैं। मर्त्य अमर्त्य नहीं हो सकता और अमर्त्य मर्त्य नहीं हो सकता।

ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता । अन्यं नि चिक्युः ।
अन्यं न निचिक्युः ॥ (मं० १६)

" ये दोनों मर्त्य और अमर्त्य अर्थात् जड और चेतन ये दोनों सनातन शाश्वत हैं, ये सर्वत्र है, परस्पर विरुद्ध गुणकर्म स्वभाववाले हैं । इनमेंसे एक को जानते हैं, परंतु दूसरे का ज्ञान नहीं होता । " मर्त्य पदार्थोंका ज्ञान कुछ अंशमें होता है, इस ज्ञानको भौतिक ज्ञान, पदार्थज्ञान किंवा विज्ञान कहते है । मनुष्य इसको प्राप्त कर सकते हैं। परंतु दूसरा जो चेतन आत्मा है जिसमें आत्मा और परमात्मा संमिलित हैं, वह अतर्क्य, अज्ञेय और गूढ हैं ।

जगत्की रचना ।

पूर्वोक्त प्रकार जड और चेतन मिलकर इस जगत्की रचना होगई है । इस विषयमें अगले हि मंत्रमें इस तरह कहा है—

भुवनस्य रेतः सप्त अर्धगर्भाः विष्णोः प्रदिशा विधर्मणि
तिष्ठन्ति । (मं० १७)

" सब सृष्टीके वीर्यसे सात मूलतत्त्व विविधगुण धर्मोंसे युक्त होकर व्यापक परमात्माकी आज्ञामें रहते हैं । " सृष्टि उत्पन्न करनेवाले ये सात मूलतत्त्व हैं, उनके गुणधर्म परस्पर भिन्न हैं और ये व्यापक ईश्वरकी आज्ञामें कार्य करते हैं । इन सात तत्त्वोंको जानना तथा आत्माको जानना इतनाही ज्ञान है, और यह ज्ञान मनुष्यके उद्धारका हेतु है । इस ज्ञानके विना मनुष्यका उद्धार हो नहीं सकता । ऐसे—

ते विपश्चितः धीतिभिः मनसा परिभुवः विश्वतः परिभवन्ति ॥
(मं० १७)

" वे विशेषज्ञानी अपनी बुद्धियोंसे, कर्मोंसे और मनके विचार से विशेष श्रेष्ठ होकर सब प्रकारसे सर्वोपरि होते है । " सबके ऊपर अपना प्रभाव जमाते हैं । सर्वत्र उपस्थित होकर सबको प्रभावित करते हैं । यह कार्य इन ज्ञानियोंसे इसलिये होता है कि इनके पास पूर्वोक्त प्राकृतिक और आत्मिक ज्ञान पूर्णतया रहता है । इस ज्ञानका महत्त्व यह है—

ऋचः अक्षरे विश्वे देवाः अधिनिषेदुः । (मं० १८)

" ऋचाके अक्षरमें सब देव निवास करते हैं । " यह योग्यता वेदमंत्रके ज्ञानकी है । एक वेदमंत्रका ज्ञान होनेका नाम इतनी देवताओंका ज्ञान होना है । वेदका ज्ञान प्रत्यक्ष

है ऐसा मानकर, पवित्र भावना ही शब्दद्वारा उच्चारित करना चाहिये। और कदापि व्यर्थ शब्दोच्चार करके आत्मा की शक्ति क्षीण नहीं करना चाहिये। अस्तु। इस प्रकार प्रश्नोत्तरसे ज्ञान इन दो मंत्रोंमें दिया है। इसके अगले मंत्रमें कहा है कि—

न विजानामि यत् इव इदं अस्मि। (मं० १५)

" मैं नहीं जानता कि किसके समान यह मैं हूं। " प्रत्येक मनुष्य जानता है कि मैं हूं। परंतु मैं कैसा हूं, किसके समान हूं, मेरा गुण धर्म क्या है, मेरा स्वरूप क्या है, इत्यादि बात कोई नहीं जानता। पढे लिखे और शास्त्र देखनेवाले यह कहते हैं कि शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है, परंतु यह आत्मा कैसा है और कमसे कम किसके सदृश है यह क्वचित कोई जानते हैं, प्रायः कोई नहीं जानते। इसीलिये इस आत्माको अज्ञेय, अतर्क्य ऐसे शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं। यह आत्मा जब शरीरमें आता है, उस समय वह—

निण्यः संनद्धः। (मं० १५)

" अन्दर गुप्त है और बंधा है। " यही इसका बंधन है और इस बंधनसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये। यह आत्मा (निण्यः) गुप्त है, छिपा है, ढंका है, अव्यक्त है और बद्ध है। यह इस आत्मा की स्थिति है। हरएक पाठकको इसका विचार करना चाहिये।

इस आत्माको बंधन कैसा होता है, इसकी मुक्ति कैसी होती है और कौन इसकी मुक्ति कर सकता है, यह विषय तत्त्वज्ञानका है। यह विषय इसी मंत्रके उत्तरार्धने इस प्रकार कहा है—

यदा ऋतस्य प्रथमजा आगन्। आत् इत् अस्याः
वाचः भागं अश्नुवे ॥ (मं० १५)

" जिस समय सत्यका पहिला प्रवर्तक परमात्मा मेरे सन्मुख हुआ, जब मुझे उसका साक्षात्कार हुआ, उस समय उसकी इस वाणीका–देववाणीका–भाग्य मुझे प्राप्त हुआ। यह एक नियम यहां कहा है। जिस समय परमेश्वर साक्षात्कार होता है, अथवा परम ऋषिका उपदेश होता है, उस समय उसके अन्तःकरणमें सत्य ज्ञानका प्रकाश होता है। यही विद्याका भाग्य है। यह आत्मसाक्षात्कारके विना नहीं हो सकता।

यहां आत्मा शरीर धारण करता है यह 'मर्त्य और अमर्त्य' का संबंध है। अर्थात् ये दो पदार्थ यहां हैं। मर्त्य अमर्त्य नहीं हो सकता और अमर्त्य मर्त्य नहीं हो सकता।

ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता । अन्यं नि चिक्युः ।
अन्यं न निचिक्युः ॥ (मं० १६)

" ये दोनों मर्त्य और अमर्त्य अर्थात् जड और चेतन ये दोनों सनातन शाश्वत हैं, ये सर्वत्र हैं, परस्पर विरुद्ध गुणकर्म स्वभाववाले हैं । इनमेंसे एक को जानते हैं, परंतु दूसरे का ज्ञान नहीं होता । " मर्त्य पदार्थोंका ज्ञान कुछ अंशमें होता है, इस ज्ञानको भौतिक ज्ञान, पदार्थज्ञान किंवा विज्ञान कहते हैं । मनुष्य इसको प्राप्त कर सकते हैं । परंतु दूसरा जो चेतन आत्मा है जिसमें आत्मा और परमात्मा संमिलित हैं, वह अतर्क्य, अज्ञेय और गूढ है ।

जगत्की रचना ।

पूर्वोक्त प्रकार जड और चेतन मिलकर इस जगत्की रचना होगई है । इस विषयमें अगले हि मंत्रमें इस तरह कहा है—

भुवनस्य रेतः सप्त अर्धगर्भाः विष्णोः प्रदिशा विधर्मणि
तिष्ठन्ति । (मं० १७)

" सब सृष्टीके वीर्यसे सात मूलतत्त्व विविधगुण धर्मोंसे युक्त होकर व्यापक परमात्माकी आज्ञामें रहते हैं । " सृष्टि उत्पन्न करनेवाले ये सात मूलतत्त्व हैं, उनके गुणधर्म परस्पर भिन्न हैं और ये व्यापक ईश्वरकी आज्ञामें कार्य करते हैं । इन सात तत्त्वोंको जानना तथा आत्माको जानना इतनाही ज्ञान है, और यह ज्ञान मनुष्यके उद्धारका हेतु है । इस ज्ञानके विना मनुष्यका उद्धार हो नहीं सकता । ऐसे—

ते विपश्चितः धीतिभिः मनसा परिभुवः विश्वतः परिभवन्ति ॥
(मं० १७)

" वे विशेषज्ञानी अपनी बुद्धियोंसे, कर्मोंसे और मनके विचार से विशेष श्रेष्ठ होकर सब प्रकारसे सर्वोपरि होते हैं । " सबके ऊपर अपना प्रभाव जमाते हैं । सर्वत्र उपस्थित होकर सबको प्रभावित करते हैं । यह कार्य इन ज्ञानियोंसे इसलिये होता है कि इनके पास पूर्वोक्त प्राकृतिक और आत्मिक ज्ञान पूर्णतया रहता है । इस ज्ञानका महत्त्व यह है—

ऋचः अक्षरे विश्वे देवाः अधिनिषेदुः । (मं० १८)

" ऋचाके अक्षरमें सब देव निवास करते हैं । " यह योग्यता वेदमंत्रके ज्ञानकी है । एक वेदमंत्रका ज्ञान होनेका नाम इतनी देवताओंका ज्ञान होना है । वेदका ज्ञान प्रत्यक्ष

है ऐसा मानकर, पवित्र भावना ही शब्दद्वारा उच्चारित करना चाहिये। और कदापि व्यर्थ शब्दोच्चार करके आत्मा की शक्ति क्षीण नहीं करना चाहिये। अस्तु। इस प्रकार प्रश्नोत्तरसे ज्ञान इन दो मंत्रोंमें दिया है। इसके अगले मंत्रमें कहा है कि—

न विजानामि यत् इव इदं अस्मि। (मं० १५)

" मैं नहीं जानता कि किसके समान यह मैं हूं। " प्रत्येक मनुष्य जानता है कि मैं हूं। परंतु मैं कैसा हूं, किसके समान हूं, मेरा गुण धर्म क्या है, मेरा स्वरूप क्या है, इत्यादि बात कोई नहीं जानता। पढे लिखे और शास्त्र देखनेवाले यह कहते हैं कि शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है, परंतु यह आत्मा कैसा है और कमसे कम किसके सदृश है यह क्वचित कोई जानते हैं, प्रायः कोई नहीं जानते। इसीलिये इस आत्माको अज्ञेय, अतर्क्य ऐसे शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं। यह आत्मा जब शरीरमें आता है, उस समय वह—

निण्यः संनद्धः। (मं० १५)

" अन्दर गुप्त है और बंधा है। " यही इसका बंधन है और इस बंधनसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये। यह आत्मा (निण्यः) गुप्त है, छिपा है, ढंका है, अव्यक्त है और बद्ध है। यह इस आत्मा की स्थिति है। हरएक पाठकको इसका विचार करना चाहिये।

इस आत्माको बंधन कैसा होता है, इसकी मुक्ति कैसी होती है और कौन इसकी मुक्ति कर सकता है, यह विषय तत्त्वज्ञानका है। यह विषय इसी मंत्रके उत्तरार्धने इस प्रकार कहा है—

यदा ऋतस्य प्रथमजा आगन्। आत इत् अस्याः
वाचः भागं अश्नुवे॥ (मं० १५)

" जिस समय सत्यका पहिला प्रवर्तक परमात्मा मेरे सन्मुख हुआ, जब मुझे उसका साक्षात्कार हुआ, उस समय उसकी इस वाणीका-देववाणीका-भाग्य मुझे प्राप्त हुआ। यह एक नियम यहां कहा है। जिस समय परमेश्वर साक्षात्कार होता है, अथवा परम ऋषिका उपदेश होता है, उस समय उसके अन्तःकरणमें सत्य ज्ञानका प्रकाश होता है। यही विद्याका भाग्य है। यह आत्मसाक्षात्कारके विना नहीं हो सकता।

यहां आत्मा शरीर धारण करता है यह 'मर्त्य और अमर्त्य' का संबंध है। अर्थात् ये दो पदार्थ यहां हैं। मर्त्य अमर्त्य नहीं हो सकता और अमर्त्य मर्त्य नहीं हो सकता।

ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता। अन्यं नि चिक्युः।
अन्यं न निचिक्युः॥ (मं० १६)

" ये दोनों मर्त्य और अमर्त्य अर्थात् जड और चेतन ये दोनों सनातन शाश्वत हैं, ये सर्वत्र हैं, परस्पर विरुद्ध गुणकर्म स्वभाववाले हैं। इनमेंसे एक को जानते हैं, परंतु दूसरे का ज्ञान नहीं होता। " मर्त्य पदार्थोंका ज्ञान कुछ अंशमें होता है, इस ज्ञानको भौतिक ज्ञान, पदार्थज्ञान किंवा विज्ञान कहते हैं। मनुष्य इसको प्राप्त कर सकते हैं। परंतु दूसरा जो चेतन आत्मा है जिसमें आत्मा और परमात्मा संमिलित हैं, वह अतर्क्य, अज्ञेय और गूढ हैं।

जगत्की रचना।

पूर्वोक्त प्रकार जड और चेतन मिलकर इस जगत्की रचना होगई है। इस विषयमें अगले हि मंत्रमें इस तरह कहा है—

भुवनस्य रेतः सप्त अर्धगर्भाः विष्णोः प्रदिशा विधर्मणि
तिष्ठन्ति। (मं० १७)

" सब सृष्टीके वीर्यसे सात मूलतत्त्व विविधगुण धर्मोंसे युक्त होकर व्यापक परमात्माकी आज्ञामें रहते हैं। " सृष्टि उत्पन्न करनेवाले ये सात मूलतत्त्व हैं, उनके गुणधर्म परस्पर भिन्न हैं और ये व्यापक ईश्वरकी आज्ञामें कार्य करते है। इन सात तत्त्वोंको जानना तथा आत्माको जानना इतनाही ज्ञान है, और यह ज्ञान मनुष्यके उद्धारका हेतु है। इस ज्ञानके विना मनुष्यका उद्धार हो नहीं सकता। ऐसे—

ते विपश्चितः धीतिभिः मनसा परिभुवः विश्वतः परिभवन्ति॥
(मं० १७)

" वे विशेषज्ञानी अपनी बुद्धियोंसे, कर्मोंसे और मनके विचार से विशेष श्रेष्ठ होकर सब प्रकारसे सर्वोपारि होते हैं।" सबके ऊपर अपना प्रभाव जमाते हैं। सर्वत्र उपस्थित होकर सबको प्रभावित करते हैं। यह कार्य इन ज्ञानियोंसे इसलिये होता है कि इनके पास पूर्वोक्त प्राकृतिक और आत्मिक ज्ञान पूर्णतया रहता है। इस ज्ञानका महत्त्व यह है—

ऋचः अक्षरे विश्वे देवाः अधिनिषेदुः। (मं० १८)

" ऋचाके अक्षरमें सब देव निवास करते हैं। " यह योग्यता वेदमंत्रके ज्ञानकी है। एक वेदमंत्रका ज्ञान होनेका नाम इतनी देवताओंका ज्ञान होना है। वेदका ज्ञान प्रत्यक्ष

है ऐसा मानकर, पवित्र भावना ही शब्दद्वारा उच्चारित करना चाहिये। और कदापि व्यर्थ शब्दोच्चार करके आत्मा की शक्ति क्षीण नहीं करना चाहिये। अस्तु। इस प्रकार प्रश्नोत्तरसे ज्ञान इन दो मंत्रोंमें दिया है। इसके अगले मंत्रमें कहा है कि—

न विजानामि यत् इव इदं अस्मि। (मं० १५)

" मैं नहीं जानता कि किसके समान यह मैं हूं। " प्रत्येक मनुष्य जानता है कि मैं हूं। परंतु मैं कैसा हूं, किसके समान हूं, मेरा गुण धर्म क्या है, मेरा स्वरूप क्या है, इत्यादि बात कोई नहीं जानता। पढे लिखे और शास्त्र देखनेवाले यह कहते हैं कि शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है, परंतु यह आत्मा कैसा है और कमसे कम किसके सदृश है यह क्वचित कोई जानते हैं, प्रायः कोई नहीं जानते। इसीलिये इस आत्माको अज्ञेय, अतर्क्य ऐसे शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं। यह आत्मा जब शरीरमें आता है, उस समय वह—

निण्यः संनद्धः। (मं० १५)

" अन्दर गुप्त है और बंधा है। " यही इसका बंधन है और इस बंधनसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये। यह आत्मा (निण्यः) गुप्त है, छिपा है, ढंका है, अव्यक्त है और बद्ध है। यह इस आत्मा की स्थिति है। हरएक पाठकको इसका विचार करना चाहिये।

इस आत्माको बंधन कैसा होता है, इसकी मुक्ति कैसी होती है और कौन इसकी मुक्ति कर सकता है, यह विषय तत्त्वज्ञानका है। यह विषय इसी मंत्रके उत्तरार्धने इस प्रकार कहा है—

यदा ऋतस्य प्रथमजा आगन्। आत् इत् अस्याः
वाचः भागं अश्नुवे॥ (मं० १५)

" जिस समय सत्यका पहिला प्रवर्तक परमात्मा मेरे सन्मुख हुआ, जब मुझे उसका साक्षात्कार हुआ, उस समय उसकी इस वाणीका–देववाणीका–भाग्य मुझे प्राप्त हुआ। यह एक नियम यहां कहा है। जिस समय परमेश्वर साक्षात्कार होता है, अथवा परम ऋषिका उपदेश होता है, उस समय उसके अन्तःकरणमें सत्य ज्ञानका प्रकाश होता है। यही विद्याका भाग्य है। यह आत्मसाक्षात्कारके विना नहीं हो सकता।

यहां आत्मा शरीर धारण करता है यह 'मर्त्य और अमर्त्य' का संबंध है। अर्थात् ये दो पदार्थ यहां हैं। मर्त्य अमर्त्य नहीं हो सकता और अमर्त्य मर्त्य नहीं हो सकता।

ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता। अन्यं नि चिक्युः।
अन्यं न निचिक्युः ॥ (मं० १६)

" ये दोनों मर्त्य और अमर्त्य अर्थात् जड और चेतन ये दोनों सनातन शाश्वत हैं, वे सर्वत्र हैं, परस्पर विरुद्ध गुणकर्म स्वभाववाले हैं। इनमेंसे एक को जानते हैं, परंतु दूसरे का ज्ञान नहीं होता। " मर्त्य पदार्थोंका ज्ञान कुछ अंशमें होता है, इस ज्ञानको भौतिक ज्ञान, पदार्थज्ञान किंवा विज्ञान कहते हैं। मनुष्य इसको प्राप्त कर सकते हैं। परंतु दूसरा जो चेतन आत्मा है जिसमें आत्मा और परमात्मा संमिलित हैं, वह अतर्क्य, अज्ञेय और गूढ हैं।

जगत्की रचना।

पूर्वोक्त प्रकार जड और चेतन मिलकर इस जगत्की रचना होगई है। इस विषयमें अगले हि मंत्रमें इस तरह कहा है—

भुवनस्य रेतः सप्त अर्धगर्भाः विष्णोः प्रदिशा विधर्मणि तिष्ठन्ति। (मं० १७)

" सब सृष्टीके वीर्यसे सात मूलतत्त्व विविधगुण धर्मोंसे युक्त होकर व्यापक परमात्माकी आज्ञामें रहते हैं। " सृष्टि उत्पन्न करनेवाले ये सात मूलतत्त्व हैं, उनके गुणधर्म परस्पर भिन्न हैं और ये व्यापक ईश्वरकी आज्ञामें कार्य करते हैं। इन सात तत्त्वोंको जानना तथा आत्माको जानना इतनाही ज्ञान है, और यह ज्ञान मनुष्यके उद्धारका हेतु है। इस ज्ञानके विना मनुष्यका उद्धार हो नहीं सकता। ऐसे—

ते विपश्चितः धीतिभिः मनसा परिभुवः विश्वतः परिभवन्ति ॥
(मं० १७)

" वे विशेषज्ञानी अपनी बुद्धियोंसे, कर्मोंसे और मनके विचार से विशेष श्रेष्ठ होकर सब प्रकारसे सर्वोपरि होते हैं। " सबके ऊपर अपना प्रभाव जमाते हैं। सर्वत्र उपस्थित होकर सबको प्रभावित करते हैं। यह कार्य इन ज्ञानियोंसे इसलिये होता है कि इनके पास पूर्वोक्त प्राकृतिक और आत्मिक ज्ञान पूर्णतया रहता है। इस ज्ञानका महत्त्व यह है—

ऋचः अक्षरे विश्वे देवाः अधिनिषेदुः। (मं० १८)

" ऋचाके अक्षरमें सब देव निवास करते हैं। " यह योग्यता वेदमंत्रके ज्ञानकी है। एक वेदमंत्रका ज्ञान होनेका नाम इतनी देवताओंका ज्ञान होना है। वेदका ज्ञान प्रत्यक्ष

है ऐसा जानकर, पवित्र भावना ही शब्दद्वारा उच्चारित करना चाहिये। और कदापि व्यर्थ शब्दोच्चार करके आत्मा की शक्ति क्षीण नहीं करना चाहिये। अस्तु। इस प्रकार प्रश्नोत्तरसे ज्ञान इन दो मंत्रोंमें दिया है। इसके अगले मंत्रमें कहा है कि—

न विजानामि यत् इव इदं अस्मि। (मं० १५)

"मैं नहीं जानता कि किसके समान यह मैं हूं।" प्रत्येक मनुष्य जानता है कि मैं हूं। परंतु मैं कैसा हूं, किसके समान हूं, मेरा गुण धर्म क्या है, मेरा स्वरूप क्या है, इत्यादि बात कोई नहीं जानता। पढे लिखे और शास्त्र देखनेवाले यह कहते हैं कि शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है, परंतु यह आत्मा कैसा है और कमसे कम किसके सदृश है यह क्वचित कोई जानते हैं, प्रायः कोई नहीं जानते। इसीलिये इस आत्माको अज्ञेय, अतर्क्य ऐसे शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं। यह आत्मा जब शरीरमें आता है, उस समय वह—

निण्यः संनद्धः। (मं० १५)

"अन्दर गुप्त है और बंधा है।" यही इसका बंधन है और इस बंधनसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये। यह आत्मा (निण्यः) गुप्त है, छिपा है, ढंका है, अव्यक्त है और बद्ध है। यह इस आत्मा की स्थिति है। हरएक पाठकको इसका विचार करना चाहिये।

इस आत्माको बंधन कैसा होता है, इसकी मुक्ति कैसी होती है और कौन इसकी मुक्ति कर सकता है, यह विषय तत्त्वज्ञानका है। यह विषय इसी मंत्रके उत्तरार्धने इस प्रकार कहा है—

यदा ऋतस्य प्रथमजा आगन्। आत् इत् अस्याः
वाचः भागं अश्नुवे॥ (मं० १५)

"जिस समय सत्यका पहिला प्रवर्तक परमात्मा मेरे सन्मुख हुआ, जब मुझे उसका साक्षात्कार हुआ, उस समय उसकी इस वाणीका-देववाणीका-भाग्य मुझे प्राप्त हुआ। यह एक नियम यहां कहा है। जिस समय परमेश्वर साक्षात्कार होता है, अथवा परम ऋषिका उपदेश होता है, उस समय उसके अन्तःकरणमें सत्य ज्ञानका प्रकाश होता है। यही विद्याका भाग्य है। यह आत्मसाक्षात्कारके विना नहीं हो सकता।

यहां आत्मा शरीर धारण करता है यह 'मर्त्य और अमर्त्य' का संबंध है। अर्थात् ये दो पदार्थ यहां हैं। मर्त्य अमर्त्य नहीं हो सकता और अमर्त्य मर्त्य नहीं हो सकता।

ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता। अन्यं नि चिक्युः।
अन्यं न निचिक्युः॥ (मं० १६)

" ये दोनों मर्त्य और अमर्त्य अर्थात् जड और चेतन ये दोनों सनातन शाश्वत हैं, ये सर्वत्र है, परस्पर विरुद्ध गुणकर्म स्वभाववाले हैं। इनमेंसे एक को जानते हैं, परंतु दूसरे का ज्ञान नहीं होता। " मर्त्य पदार्थोंका ज्ञान कुछ अंशमें होता है, इस ज्ञानको भौतिक ज्ञान, पदार्थज्ञान किंवा विज्ञान कहते हैं। मनुष्य इसको प्राप्त कर सकते हैं। परंतु दूसरा जो चेतन आत्मा है जिसमें आत्मा और परमात्मा संमिलित हैं, वह अतर्क्य, अज्ञेय और गूढ हैं।

जगत्की रचना।

पूर्वोक्त प्रकार जड और चेतन मिलकर इस जगत्की रचना होगई है। इस विषयमें अगले हि मंत्रमें इस तरह कहा है—

भुवनस्य रेतः सप्त अर्धगर्भाः विष्णोः प्रदिशा विधर्मणि
तिष्ठन्ति। (मं० १७)

" सब सृष्टीके वीर्यसे सात मूलतत्त्व विविधगुण धर्मोंसे युक्त होकर व्यापक परमात्माकी आज्ञामें रहते हैं। " सृष्टि उत्पन्न करनेवाले ये सात मूलतत्त्व हैं, उनके गुणधर्म परस्पर भिन्न हैं और ये व्यापक ईश्वरकी आज्ञामें कार्य करते हैं। इन सात तत्त्वोंको जानना तथा आत्माको जानना इतनाही ज्ञान है, और यह ज्ञान मनुष्यके उद्धारका हेतु है। इस ज्ञानके विना मनुष्यका उद्धार हो नहीं सकता। ऐसे—

ते विपश्चितः धीतिभिः मनसा परिभुवः विश्वतः परिभवन्ति॥
(मं० १७)

" वे विशेषज्ञानी अपनी बुद्धियोंसे, कर्मोंसे और मनके विचार से विशेष श्रेष्ठ होकर सब प्रकारसे सर्वोपरि होते हैं। " सबके ऊपर अपना प्रभाव जमाते हैं। सर्वत्र उपस्थित होकर सबको प्रभावित करते हैं। यह कार्य इन ज्ञानियोंसे इसलिये होता है कि इनके पास पूर्वोक्त प्राकृतिक और आत्मिक ज्ञान पूर्णतया रहता है। इस ज्ञानका महत्त्व यह है—

ऋचः अक्षरे विश्वे देवाः अधिनिषेदुः। (मं० १८)

" ऋचाके अक्षरमें सब देव निवास करते हैं। " यह योग्यता वेदमंत्रके ज्ञानकी है। एक वेदमंत्रका ज्ञान होनेका नाम इतनी देवताओंका ज्ञान होना है। वेदका ज्ञान प्रत्यक्ष

है ऐसा मानकर, पवित्र भावना ही शब्दद्वारा उच्चारित करना चाहिये। और कदापि व्यर्थ शब्दोच्चार करके आत्मा की शक्ति क्षीण नहीं करना चाहिये। अस्तु। इस प्रकार प्रश्नोत्तरसे ज्ञान इन दो मंत्रोंमें दिया है। इसके अगले मंत्रमें कहा है कि—

न विजानामि यत् इव इदं अस्मि। (मं० १५)

" मैं नहीं जानता कि किसके समान यह मैं हूं। " प्रत्येक मनुष्य जानता है कि मैं हूं। परंतु मैं कैसा हूं, किसके समान हूं, मेरा गुण धर्म क्या है, मेरा स्वरूप क्या है, इत्यादि बात कोई नहीं जानता। पढे लिखे और शास्त्र देखनेवाले यह कहते हैं कि शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है, परंतु यह आत्मा कैसा है और कमसे कम किसके सदृश है यह क्वचित कोई जानते हैं, प्रायः कोई नहीं जानते। इसीलिये इस आत्माको अज्ञेय, अतर्क्य ऐसे शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं। यह आत्मा जब शरीरमें आता है, उस समय वह—

निण्यः संनद्धः। (मं० १५)

" अन्दर गुप्त है और बंधा है। " यही इसका बंधन है और इस बंधनसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये। यह आत्मा (निण्यः) गुप्त है, छिपा है, ढंका है, अव्यक्त है और बद्ध है। यह इस आत्मा की स्थिति है। हरएक पाठकको इसका विचार करना चाहिये।

इस आत्माको बंधन कैसा होता है, इसकी मुक्ति कैसी होती है और कौन इसकी मुक्ति कर सकता है, यह विषय तत्त्वज्ञानका है। यह विषय इसी मंत्रके उत्तरार्धने इस प्रकार कहा है—

यदा ऋतस्य प्रथमजा आगन्। आत् इत् अस्याः
वाचः भागं अश्नुवे॥ (मं० १५)

" जिस समय सत्यका पहिला प्रवर्तक परमात्मा मेरे सन्मुख हुआ, जब मुझे उसका साक्षात्कार हुआ, उस समय उसकी इस वाणीका–देववाणीका–भाग्य मुझे प्राप्त हुआ। यह एक नियम यहां कहा है। जिस समय परमेश्वर साक्षात्कार होता है, अथवा परम ऋषिका उपदेश होता है, उस समय उसके अन्तःकरणमें सत्य ज्ञानका प्रकाश होता है। यही विद्याका भाग्य है। यह आत्मसाक्षात्कारके विना नहीं हो सकता।

यहां आत्मा शरीर धारण करता है यह 'मर्त्य और अमर्त्य' का संबंध है। अर्थात् ये दो पदार्थ यहां हैं। मर्त्य अमर्त्य नहीं हो सकता और अमर्त्य मर्त्य नहीं हो सकता।

ये इत् तत् विदुः, ते इमे समासते ॥ (मं० १८)

"जो ज्ञानी पूर्वोक्त विद्याको यथावत् जानते हैं वेहि श्रेष्ठ स्थानमें विराजमान हो सकते हैं। सुखात्मक उत्तम या परम स्थान को प्राप्त हो सकते है। सत्य ज्ञानका इतना महत्त्व है। इसी विषयमें यह मंत्र अब देखिये—

अर्धर्चेन एजत् विश्वं चाक्लृपुः (मं० १९)

"आधे मंत्रभागसे चेतन आत्मा और सब जगत् समर्थ बन सकता है।" आधे मंत्रका ठीक ठीक ज्ञान होनेसे आत्मा भी बलवान् होता है और जगत्‌के पदार्थ भी अपने अपने सामर्थ्यसे सामर्थ्यवान् होते हैं। आधे मंत्रमें यदि इतना विलक्षण ज्ञान है तो सूक्तमें और अनुवाकमें कितना ज्ञान होगा और वह मनुष्यका कैसा उद्धार कर सकता है, इस विषयकी कल्पना पाठक कर सकते हैं। इसीलिये वेदके ज्ञानका गौरव सर्वत्र आर्य शास्त्रोंमें किया है। परंतु यह ज्ञान सद्गुरुसे प्राप्त करना चाहिये, वेदकी परंपरासे मिलना चाहिये और उससे मनन द्वारा वह आत्मसात् होना चाहिये और अन्तमें देवताका साक्षात्कार होना चाहिये। साक्षात्कारके पश्चात् उस ज्ञानसे पूर्वोक्त लाभ होसकता है, केवल शब्दज्ञानसे नहीं। सारांशरूपसे जानना हो तो इतनी बात पाठक ध्यानमें धारण करें—

त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तस्थे, तेन चतस्रः प्रदिशः जीवन्ति। (मं १९)

"त्रिपाद् ब्रह्म विविध रूपसे जगत्‌में विशेष रीतिसे ठहरा है, और इसके जीवनसे चारों दिशाओंमें रहनेवाले पदार्थ जीवित रहते हैं।" यह ब्रह्म अथवा परमात्मा सर्व पदार्थोंके अन्दर व्यापक है और उसकी अगाध शक्तिसे यह सब जगत् जीवित रहा है। यदि उस ब्रह्मकी शक्ति इस जगत् को आधार न देगी, तो इस जगत्‌मेंसे कोई पदार्थ जीवित नहीं रहेगा। सबका जीवनाधार वही श्रेष्ठ ब्रह्म है।

जगत् का चक्र ।

जगत् का चक्र किस तरह घूमता है यह बतानेके लिये बाईसवें मंत्रमें वृष्टीका उदाहरण दिया है, पृथ्वीपरके पाणीकी भांप सूर्यकिरणोंसे होकर ऊपर जाती है, वहां उसके मेघ बनते हैं और योग्य समयमें वृष्टि होकर पृथ्वीपर जल होता है, फिर भांप मेघ और वृष्टि ऐसा यह जल चक्र सनातन चल रहा है। इसी प्रकार अनेक चक्र है और उसमें जगच्चक्र भी एक है। पदार्थ की उत्पत्ति, स्थिति और लय और लयके पश्चात् फिर उत्पत्ति इस प्रकार यह जगच्चक्र चल रहा है। चक्रका एक

देवताओंका ही ज्ञान है। अग्निमंत्रसे अग्निविद्या, वायुके मंत्रोंसे वायुविद्या, इसी प्रकार अन्यान्य मंत्रोंसे अन्यान्य देवताओंकी विद्या जानी जाती है। यह विद्या जैसी प्राकृतिक पदार्थोंका ज्ञान देती है उसी प्रकार आत्माका भी ज्ञान देती है। अग्नि, वायु, रवि, इन्द्र आदि शब्दोंसे एक सत्य आत्माका बोध होता है, यह बात इसी सूक्तके अन्तिम मंत्रमें कही है। वह अत्यंत महत्त्वका मंत्र यह है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ (मं० २८)

" एकही सत्य आत्माका वर्णन ज्ञानी लोग अनेक प्रकारसे करते हैं, उसीको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा इत्यादि नाम वे देते हैं।" अर्थात् इन्द्र, मित्र, वरुण आदि नाम एक आत्माके हैं, प्रत्येक नामसे व्यक्त होनेवाला गुण उसमें है, वह शत्रुनाशक होनेसे इन्द्र, सबका हितचिन्तक होनेसे मित्र, सबसे वरिष्ठ होनेसे वरुण, गतिमान होनेसे अग्नि, द्युस्थानमें होनेसे दिव्य, उत्तम पूर्ण होनेसे सुपर्ण, श्रेष्ठ होनेसे गरुत्मान्, एक अद्वितीय होनेसे एक, तीनों कालोंमें सत्य होनेसे सत्, सबका नियामक होनेसे यम, अन्तरालमें रहनेसे मातरिश्वा कहा जाता है। उसी एकके ये अनेक नाम हैं। और वेदमंत्रमें उस सत्य आत्माकी विद्या इस तरह है।

इसके साथ साथ ये नाम अग्नि वायु आदि हैं वे भौतिक पदार्थोंके भी वाचक हैं, इस लिये इन देवताओंके नामोंसे और मंत्रोंसे इन पदार्थोंकी भी विद्या होती है। इस तरह इन्हीं मंत्रोंसे इन देवोंकी विद्या, भूत विद्या, और प्राकृतिक विज्ञान प्राप्त होना संभव है। अतः कहा है वेदमंत्रोंके अक्षरोंमें देव उपस्थित है, यहां देवोंकी ज्ञान रूपसे उपस्थिति समझना योग्य है।

यः तत् न वेद किं ऋचा करिष्यति ? (मं० १८)

"जो इस विद्याको नहीं जानता वह वेदमंत्र लेकर क्या करेगा ?" अर्थात् केवल कंठ करना, अथवा केवल शब्दका अर्थ जानना व्यर्थ है। मंत्रका ठीक ठीक अर्थ तब विदित हुआ ऐसा कहा जा सकता है कि जब पाठकको मंत्रवर्णित देवताका साक्षात्कार यथावत् हो जायगा। यदि भौतिक देवताका साक्षात्कार हुआ तो भूतविद्या समझमें आगयी, और यदि आत्माका साक्षात्कार हुआ, तब आत्मविद्या समझमें आगयी। ज्ञानी की योग्यता श्रेष्ठ है वह ऐसे साक्षात्कार हुए ज्ञानी की है, न कि केवल शब्द-शास्त्री की। अतः कहा है—

ये इत् तत् विदुः, ते इत् समासते ॥ (मं० १८)

"जो ज्ञानी पूर्वोक्त विद्याको यथावत् जानते हैं वेहि श्रेष्ठ स्थानमें विराजमान हो सकते हैं। सुखात्मक उत्तम या परम स्थान को प्राप्त हो सकते हैं। सत्य ज्ञानका इतना महत्त्व है। इसी विषयमें यह मंत्र अब देखिये—

अर्धर्चेन एजत् विश्वं चाक्लृपुः (मं० १९)

"आधे मंत्रभागसे चेतन आत्मा और सब जगत् समर्थ बन सकता है।" आधे मंत्रका ठीक ठीक ज्ञान होनेसे आत्मा भी बलवान् होता है और जगत्के पदार्थ भी अपने अपने सामर्थ्यसे सामर्थ्यवान् होते हैं। आधे मंत्रमें यदि इतना विलक्षण ज्ञान है तो सूक्तमें और अनुवाकमें कितना ज्ञान होगा और वह मनुष्यका कैसा उद्धार कर सकता है, इस विषयकी कल्पना पाठक कर सकते हैं। इसीलिये वेदके ज्ञानका गौरव सर्वत्र आर्य शास्त्रोंमें किया है। परंतु यह ज्ञान सद्गुरुसे प्राप्त करना चाहिये, वेदकी परंपरासे मिलना चाहिये और उससे मनन द्वारा वह आत्मसात् होना चाहिये और अन्तमें देवताका साक्षात्कार होना चाहिये। साक्षात्कारके पश्चात् उस ज्ञानसे पूर्वोक्त लाभ होसकता है, केवल शब्दज्ञानसे नहीं। सारांशरूपसे जानना हो तो इतनी बात पाठक ध्यानमें धारण करें—

त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तस्थे, तेन चतस्रः प्रदिशः जीवन्ति। (मं १९)

"त्रिपाद् ब्रह्म विविध रूपसे जगत्में विशेष रीतिसे ठहरा है, और इसके जीवनसे चारों दिशाओंमें रहनेवाले पदार्थ जीवित रहते हैं।" यह ब्रह्म अथवा परमात्मा सर्व पदार्थोंके अन्दर व्यापक है और उसकी अगाध शक्तिसे यह सब जगत् जीवित रहा है। यदि उस ब्रह्मकी शक्ति इस जगत् को आधार न देगी, तो इस जगत्मेंसे कोई पदार्थ जीवित नहीं रहेगा। सबका जीवनाधार वही श्रेष्ठ ब्रह्म है।

जगत् का चक्र।

जगत् का चक्र किस तरह घूमता है यह बतानेके लिये बाईसवें मंत्रमें पृथ्वीका उदाहरण दिया है, पृथ्वीपरके पाणीकी भांप सूर्यकिरणोंसे होकर ऊपर जाती है, वहां उसके मेघ बनते हैं और योग्य समयमें वृष्टि होकर पृथ्वीपर जल होता है, फिर भांप मेघ और वृष्टि ऐसा यह जल चक्र सनातन चल रहा है। इसी प्रकार अनेक चक्र हैं और उसमें जगच्चक्र भी एक है। पदार्थ की उत्पत्ति, स्थिति और लय और लयके पश्चात् फिर उत्पत्ति इस प्रकार यह जगच्चक्र चल रहा है। चक्रका एक

बिंदु एक समय ऊपर होता और दूसरे समय वही नीचे आता है, इसी प्रकार जिसका जन्म होता है वही योग्य कालमें युवा होता है, और पश्चात् नाशको प्राप्त होता है और पश्चात् नवीन बनता है। इस तरह जगत् के सब चक्र चल रहे हैं। प्रवाहसे जगत् सनातन किंवा अनादि अनन्त है, ऐसा जो कहते हैं उसका कारण यही है, परंतु प्रत्येक पदार्थ की दृष्टिसे देखा जाय तो जगत् उत्पत्तिवाला और नाशवान् है। मनुष्य व्यक्तिशः मरता है तथापि मानव समाज अनादि कालसे चला आता है और भविष्यमें भी रहेगा। इसी तरह जगत् के विषयमें जानना योग्य है।

इस जगत् में एक विलक्षण बात है, वह यह है कि—

पद्वतीनां प्रथमा अपात् एति। (मं० २२)

"पांववालोंके पहिले पांवरहित दौडता है।" वस्तुतः पांववाले की दौड तेजीसे होना योग्य है, परंतु यहां पांववाला चलनेमें असमर्थ है और पांवरहित दौड लगाता है, इतनाही नहीं, प्रत्युत पांववालेको ही यह पांवरहित चलाता है। यहां अपने शरीरमें हि देखिये, शरीरको पांव हैं परंतु वह शरीर स्वयं चल नहीं सकता और आत्माको पांव नहीं हैं परंतु वह इस पांववाले शरीरको चला सकता है, कितना यह आश्चर्य है। इसीलिये एक सुभाषितमें कहा है—

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लंघयते गिरीन्॥

"मूक शरीरको यह आत्मा वाचाल करता है और पंगुको पहाडों की सेर कराता है।" ऐसी अद्भुत शक्ति इस आत्मामें है। इस बातको यथावत्—

कः तत् चिकेत? (मं० २२)

"कौन इस बातको जानता है?" बहुत लोग तो शाब्दिक रीतिसे जानते हैं, परंतु साक्षात्कारके समान जानना कठिन है। यह ज्ञान यद्यपि हरएकको प्राप्त करना आवश्यक है, तथापि मनुष्य ऐसे भ्रमचक्रमें गोते खाते हैं कि उनमेंसे बहुत ही थोडे मनुष्य इस सत्य ज्ञानको यथावत् जान सकते हैं। इस आत्माकी शक्तिके विषयमें देखिये—

गर्भः अस्याः भारं आभरति। (मं० २३)

"मध्यमें स्थित आत्मा–प्रत्येक का केन्द्र– इस प्रकृति का सब भार उठाता है।" इस जड शरीरका भार यह चेतन आत्मा उठा रहा है। यही इस शरीरको कुदवाता है, दौडाता है, छलांगें मरवाता है, यह सब इस शरीरसे होना सर्वथा असंभव है,

परंतु ये सब बातें इस शरीरसे हो रहीं हैं, यह इस आत्माकी शक्तिसे ही हो रहीं हैं। जडको चेतनवत् चलानेका कार्य करना यह इसकी अद्भुत शक्तिका द्योतक है। इतना करता हुआ यह आत्मा—

ऋतं पिपर्ति, अनृतं निपाति। (मं० २३)

" सत्यकी पूर्णता करता है और असत्यको नीचे दबाता है। " जगत् में इसकी हलचल इसीलिये हो रही है। सत्यका विजय हो और असत्यका विजय न हो, इसी लिये इसकी सब हलचल हो रही है, यही बात भगवद्गीतामें इस प्रकार कही है-

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ भ० गी० ४।८

" सत्य मार्गीयोंकी रक्षा करनेके लिये और असत्यमार्गीयोंका नाश करनेके लिये अर्थात् सत्यधर्मकी स्थापनाके लिये आत्मा सत्य और असत्यके संयुग अर्थात् युद्धके समयमें प्रकट होता है। " सत्य और असत्य का युद्ध चलरहा है, यह हमेशा चलता है, और यह आत्मा अपनी शक्ति इस प्रकारके युद्ध छिडनेपर सत्यकी रक्षा करनेके लिये प्रकट करता है। और अपनी शक्तिसे सत्यकी रक्षा करता है, असत्यका नाश करता है और सत्य धर्मका संस्थापन करता है।

इसी आत्माका नाम विराट् है और यह पृथ्वी, आप आदि जगत्में जगद्रूप बना है और यह (अधिराजः बभूव) सबका राजाधिराज है। यही सबका ईश्वर है और इसके (वशे भूतं भव्यं) आधीन भूत, भविष्य और वर्तमानका संपूर्ण जगत् है। सब पर इसीका शासन चल रहा है। यही सब का एक ईश्वर है और इसीके शासनमें सब जगत् चल रहा है। इसकी प्रसन्नता हुई तो वह (मे वशे भूतं भव्यं) मुझ जैसे मनुष्यके वशमें भी भूत भविष्य वर्तमान करता है। उसकी कृपा होनेकी ही केवल आवश्यकता है। इसकी कृपा यज्ञीय जीवन करनेसे हि होसकती है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है। पहिले समयमें यज्ञ इसी ईशकृपा संपादन करनेके लिये किये जाते थे (तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्) येही पहिले शुद्ध आत्माओंके धर्म थे। (वीराः पृश्निं उक्षाणं अपचन्त) ये वीर लोग छोटे उक्षाको परिपक्व बनाते थे। अर्थात् इन यज्ञकर्मोंसे छोटे उक्षाकी परिपक्वता होती है। यहां (पृश्निं उक्षाणं) छोटा उक्षा कौन है इसका विचार करना चाहिये। वेदमें अन्यत्र कहा है कि—

उक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्ति॥ ऋ० १०।३१।८
अग्निर उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः॥ ऋ० ९।८३।३

अनड्वान्दाधार पृथिवीमुत द्यामनड्वान्दाधारोर्वन्तरिक्षम् ।
अनड्वान्दाधार प्रदिशः षडुर्वीरनड्वान्विश्वं भुवनमाविवेश ॥
अथर्व० ४।११।१

" उक्षा द्युलोकका और पृथ्वीका भरण पोषण करता है । बडा भाई उक्षा अन्न देता हुआ सब भुवनोंका धारण पोषण करता है । अनड्वान् पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यु, सब दिशाओं, छः पृथ्वीयों और सब भुवनोंका धारण पोषण करता है । " यहां उक्षा और अनड्वान् एक ही है यह सब जानते हैं । भाषामें इन शब्दोंका अर्थ " बैल " है, और इनका यौगिक अर्थ " उठानेवाला, खींचनेवाला, शकट चलाने वाला " है । उक्त मंत्रोंमें त्रिभुवनका चलानेवाला, सब भुवनोंका चलानेवाला, सब का आधार उक्षा है ऐसा कहा है । इसलिये यहां का उक्षा या अनड्वान् शब्द निश्चयसे बैलवाचक नहीं है ।

उक्त ऋग्वेदके मंत्रमें ' अग्रिय उक्षा ' शब्द है, इनका अर्थ ' बडा भाई उक्षा ' है । अर्थात् जो सब भुवनोंका आधार है वह बडा भाई उक्षा है । इससे सिद्ध होता है कि इस बडेभाई उक्षाका कोई दूसरा छोटा भाई उक्षा है । निःसन्देह ही इस छोटे भाई के वाचक ही यहां ' पृश्निं उक्षाणं ' ये शब्द हैं । पृश्निका अर्थ " छोटा " है ।

अग्रियः उक्षा । ऋ० ९।८३।३
पृश्निः उक्षा । अथर्व ९।१० (१५)।२९

ये दो मंत्रोक्त शब्द स्पष्ट बता रहे हैं कि इनमेंसे एक बडा भाई और दूसरा छोटा भाई है । बडाभाई पहिलेसे परिपक्व है परंतु दूसरा भाई परिपक्व बननेवाला है । इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह परिपक्व होनेवालेका वर्णन जीवात्माका है । परमात्मा शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव अत एव परिपक्व है और जीवात्मा अबुद्ध और अमुक्त होनेसे अपरिपक्व है । अपरिपक्व को परिपक्व बनाना होता है, यही कार्य वीर अर्थात् बलवान लोग करते हैं, क्यों कि (नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः । कठ उ० १।२।२२) बलहीन मनुष्यसे इसके परिपक्व बनानेका अनुष्ठान नहीं हो सकता है । इस हेतुसे कहा है कि वीर लोग ही इस छोटेभाई उक्षाको परिपक्व बनानेका कार्य करते हैं । अर्थात् यह (पृश्नि उक्षा) छोटाभाई उक्षा, जीवात्मा है । दो सुपर्ण, दो उक्षा ये वैदिक वर्णन जीवात्मा परमात्माके हि वाचक हैं । अस्तु । यहां छोटे उक्षा—जीवात्मा— के परिपक्व बनानेका साधन ' यज्ञ ' कहा है ।

विषूवता आरात् शकमयं धूमं अपश्यं। (मं० २५)

" सर्वत्र दूर और समीप शक्तिमान यज्ञाग्निका धूवां मैं देखता हूं। " और इस यज्ञाग्निद्वारा ही वीर लोग इस छोठे उक्षा को परिपक्व बनाते हैं। यज्ञसे हि इसकी परिपक्वता होती है। अग्निमें हवन करना यह यज्ञका उपलक्षण है। यज्ञका मुख्यार्थ ' देव पूजा, संगतिकरण और दान ' है। इस मुख्यार्थ को लेकर और उपलक्षण को सूचक मानकर हि इसका अर्थ करना उचित है। कई लोग यहां ' उक्षा, धूम और पचन्ति ' शब्द देखकर प्राचीन लोग बैलको अग्निपर पकाते थे, ऐसा भाव निकालते हैं। परंतु यहां किसीको ऐसा संदेह न हो इसलिये इस मंत्रका इतना स्पष्टीकरण करना पडा है। आशा है कि इस स्पष्टीकरणसे किसी वाचक के मनमें इस विषयमें कोई शंका नहीं रहेगी।

किरणवाले तीन देव।

(त्रयः केशिनः) किरणवाले अर्थात् प्रकाशमान तीन देव हैं। ये तीनों देव (ऋतुथा विचक्षते) ऋतुके अनुसार प्रकाशते हैं। यहां इस प्रकारके कई देवोंके गण हैं, पहिला सूर्यगण है, इसमें सूर्य, विद्युत् और अग्नि ये तीन देव क्रमशः द्यु, अन्तरिक्ष और भू स्थानमें हैं। तीनों प्रकाशमान होनेसे ' केशी ' अर्थात् किरणोंसे युक्त किंवा बालोंवाले हैं।

(एषां एकः संवत्सरे वपते) इनमेंसे एक वर्षमें एक वार जलादि का बीजारोपण करता है, सूर्यके कारण वर्षमें एकवार भूमिमें बीजक्षेप करके धान्य उत्पन्न होता है। (अन्यः शचीभिः विश्वं अभिचष्टे) दूसरा तेजस्वी देव अपने किरणोंसे सबको प्रकाशित करता है। यह अग्नि अपने तेजसे रात्रीके समयमें भी जगत्में प्रकाश करता है। तीसरा देव विद्युत् है (एकस्य ध्राजिः ददृशे) उसकी गति दिखाई देती है परंतु (न रूपं) उसका रूप नहीं दीखता, क्यों कि यह क्षणमात्र चमकता है और पश्चात् किस स्थानपर जाता है इस का पता भी नहीं लगता। यंत्रद्वारा तार आदि चलानेका कार्य करनेवाली बिजली भी दिखाई नहीं देती, परंतु उसका वेग अनुभवमें आता है।

इसी प्रकार अग्नि, वायु और सूर्य ये तीन देव उक्त तीन स्थानोंमें हैं जिनमें बीचका नहीं दीखता है और अन्य देव दीखते हैं। शरीरमें भी वाणी, प्राण और नेत्र हैं जिनमेंसे प्राण मध्यस्थानीय देव नहीं दीखता, परंतु वेगसे अनुभव होता है। इस प्रकार तीन तीन देवोंके अनेक गण हैं। पाठक इस प्रकार विचार करेंगे तो उनको

इन गणोंका ज्ञान होगा। यहां स्मरण रखना चाहिये कि ये तीन यद्यपि स्थूल दृष्टीसे विभिन्न प्रतीत होते हैं तथापि एक के हि ये तीन रूप हैं।

चतुष्पाद गौ।

" गौ " का अर्थ ' वाचा ' है। यह वाक् चतुष्पाद अर्थात् चार पाद वाली है। (वाक् चत्वारि पदानि परिमिता) नाभि, उर और कण्ठमें तीन पाद गुप्त हैं और मुखमें जो चतुर्थ पाद है वह व्यक्त है। इस प्रकार ये वाणीके चार पाद हैं। इन चार पादों अर्थात् स्थानोंमें यह वाणी उत्पन्न होती है, परंतु ये वाणीके स्थान साधारण मनुष्य जान नहीं सकते, क्योंकि ये योगी लोग ही ध्यानधारणासे जान सकते हैं। ये (मनीषिणः ब्राह्मणाः विदुः) ज्ञानी ब्रह्मको जाननेवाले ही इस बातको जान सकते हैं। अर्थात् वाणीकी उत्पत्तिका इस प्रकार विचार करनेसे मनुष्य आत्मातक पहुंच सकता है।

पाठक इस तरह मनन करके आत्मज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

अथर्ववेदके नवम काण्डका मनन।

सात मधु।

इस काण्डमें ३०२ मंत्र हैं और इनमें कई मंत्र विशेषहि मनन करने योग्य हैं। इन में सबसे प्रथम सूक्तका " सात मधु " अर्थात् सात मीठे पदार्थोंका वर्णन करनेवाला मंत्र पाठक विशेष स्मरण रखें—

ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्चानड्वांश्च व्रीहिश्च यवश्च
मधु सप्तमम्॥ कां० ९।१।२२

" ब्राह्मण, राजा, धेनु, बैल, चावल, जौ और मध (शहद) ये सात मधु इस जगत् में हैं। " प्रत्येक मनुष्य मीठास चाहता है, मधुरता चाहता है, मीठे पदार्थ खानेकी इच्छा करता है। वेद कहता है कि ये " सात मधुर पदार्थ हैं " जो मनुष्य मीठाई सेवन करना चाहे वह इनका सेवन करें। यहां प्रत्येकका सेवन करनेका विधि भिन्न भिन्न है। प्रथम हम इन सात मधुओंका स्वरूप देखेंगे—

" ब्राह्मण " पहिला मधु है। इसके पास ज्ञान का मीठा रस रहता है। यही साक्षात् अमृत है, ज्ञान और विज्ञान इसमें संमिलित है। अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि इस ज्ञानपर अवलंबित है। ब्राह्मणके आधीन राष्ट्रका अध्ययन अध्यापन है। अर्थात् यही राष्ट्रकी भावी संतान उदयोन्मुख करता है। यह "ज्ञानमधु" है। हरएक मनुष्य और प्रत्येक युवा इसका सेवन करे।

" राजा " दूसरा मधु है। (रञ्जयति इति राजा) प्रजाका रंजन करनेवाला राजा होता है। जो प्रजाके उत्साहको कुचलता है उसका नाम राजा नहीं। राजा शब्दसे सब क्षत्रियोंका ग्रहण हो जाता है। दुःखसे प्रजाकी रक्षा करना और उसका रञ्जन करना, यही राज्यशासन का कार्य है। यहां 'प्रजारञ्जनरूप' मधु देनेवाला राजा होता है। राष्ट्रका प्रत्येक मनुष्य इस रक्षाका कार्य करनेमें समर्थ चाहिये, तभी यह मधु प्रजाको प्राप्त होता है। जहां ब्राह्मण और क्षत्रिय मिलजुलकर राष्ट्रकी उन्नति करनेमें तत्पर होते हैं वही राष्ट्र उन्नत होता है।

इसके पश्चात् तीसरा मधु " गौ " है। ज्ञान और रक्षा होनेके पश्चात् गायका दूध रूपी अमृत प्रत्येक मनुष्यको प्राप्त होना चाहिये। यह अमृत है और यही जीवन है। चतुर्थ मधु "बैल" है। उत्तम गौकी उत्पत्ति उत्तम बैल के वीर्य पर अवलंबित है इस लिये बैलकी गणना मधुमें की है। इसके अतिरिक्त हमारी खेती भी उत्तम बैलपरहि

निर्भर है। आगेके तीन मधु चावल जौ और शहद हैं। ये उत्तम भक्ष्यान्न हैं ये चावल और जौ बुद्धिवर्धक हैं और शरीरकी स्वस्थताके लिये यह अन्न उत्तम है। मधु अर्थात् शहद तो सर्वोत्तम स्वादु पदार्थ है। वनस्पतियोंमें फूल उत्तम और फूलोंमें मधु उत्तम। ऋषियोंका यही चावल जौ और शहद अन्न था, इसी लिये उनकी बुद्धि अत्यंत कुशाग्र होती थी। इस प्रकार यह सात मधुओंका विषय है। इसका विचार पाठक करें।

सूर्यकिरण।

अष्टम सूक्तमें सूर्यकिरणोंका महत्त्व वर्णन किया है। सूर्यकिरणसे शरीरके रोग दूर होते हैं ऐसा जो कहा है वह प्रत्येक मनुष्यको विशेष रीतिसे स्मरण रखना चाहिये—

सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च यो विधुः।
उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोऽङ्गभेदमशीशमः॥
अथर्व० १।१२।२

" उदयको प्राप्त हुआ सूर्य अपने किरणोंके द्वारा सिरका दर्द, अंगोंके रोग, हृदयके रोग तथा अन्य रोग दूर करता है। " यह मंत्रका कथन सब लोगोंको सदा स्मरण करना आवश्यक है। आजकल रोग बढ रहे हैं, जो रोग पूर्व समय में नहीं थे, वे इस समय चारों ओर फैल रहे हैं। ऐसी अवस्थामें सूर्यकिरणोंके इस रोगनाशक धर्मका हमें विशेष उपयोग हो सकता है। आजकल प्रायः प्रत्येक मनुष्य सिरदर्दसे पीडित है, पेटके रोग अपचन आदि बहुतोंको सता रहे हैं। शरीरकी दुर्बलता तो प्रमाणसे भी अधिक बढ रही है। ऐसी अवस्थामें सूर्यकिरणों का उपयोग मनुष्य करेंगे तो निःसंदेह अधिक लाभ होगा। सूर्यके पास टकटकी लगाकर देखनेसे नेत्ररोग और दृष्टिके दोष दूर होते हैं यह अनुभवसिद्ध बात है। जो लोग धूपमें अपने शरीरके चमडीको तपायेंगे, उनको ज्वरादि की बाधा नहीं होगी, इसी प्रकार सूर्यकिरणोंके द्वारा अनंत लाभ होना संभव है। इसका विचार पाठक करें।

एक देव।

सूक्त नवम और दशम बडे महत्त्वके हैं। ऋग्वेदमें इन दोनों सूक्तोंका मिलकर एकही सूक्त है। इन दोनों सूक्तोंका विषय प्रायः एकही है। आत्मा और जगत् का ज्ञान देना यही मुख्यतया इसका विषय है। यह विषय इन सूक्तोंमें अनेक प्रकारसे समझाया है। वेद पढते पढते एक बात पाठकोंके मनमें खटकती है वह यह है कि ये

भिन्न भिन्न देवताएं विभिन्न ही हैं कि इनकी एक देवतामें परिणति होती है। अर्थात् वेदमें "एकदेवतावाद" है वा "बहुदेवतावाद" है। इसका उत्तर दशमसूक्तने उत्तम रीतिसे दिया है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

अथ० ९।१०।२८

यह मंत्र ऋग्वेदके प्रथम मंडलमें भी है। इस मंत्रका कथन है कि (एकं सत्) एकहि सत्य तत्त्व है, एकही आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, परब्रह्म, देव ईश्वर किंवा परमेश्वर है। जिसका कोई नाम नहीं है, परंतु जिसके सब नाम भी हैं। उसको "सत्" इतना ही यहां कहा है। "सत्" का अर्थ है "जो है"। अर्थात् ऐसी कोई विलक्षण शक्ति है कि जो इस जगत्के पीछे रहकर सब जगत्के कार्य चलारही है। जिसकी शक्तिसे अग्नि जलता, सूर्य प्रकाशता, विद्युत चमकती, वायु बहता, और जल प्रवाहित होता है। अतः उस अनाम सत्य तत्त्वको अग्नि, सूर्य आदि नाम दिये गये हैं।

वेदका पाठ करनेके समय इस सत्य सिद्धान्तकी मनमें स्थिरता करना चाहिये। वेदका सत्य ज्ञान होनेके लिये इस सिद्धान्तके जानने और समझनेकी अत्यंत आवश्यकता है। जो लोग इस मंत्रके उपदेशको नहीं मानते, वे वेदका अर्थ समझने के अधिकारीहि नहीं हो सकते। अतः वेदने स्वयं इन्हीं सूक्तोंमें कहा है कि जो इस तत्त्वको नहीं जानते वे

किं ऋचा करिष्यति।

"वेदके मंत्र लेकर क्या करेंगे?" अर्थात् उनको इससे कोई लाभ नहीं होगा। लाभ तो उनको होगा कि जो वेदकी प्रक्रिया स्वीकार करके वेदको पढते हैं। दुर्दैव से आजकल ऐसे भी कई लोग हैं, कि जो इस मंत्र कोहि-अप्रमाण मानते हैं। वस्तुतः वेदमें यही प्रधान मंत्र है। क्यों कि इसी के आधारसे वेदमंत्रोंका अर्थ स्पष्ट होना है। अतः पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे इस मंत्रका अच्छी प्रकार मनन करें और सब वैदिक देवताओंके नाम एक ही सद्वस्तु के हैं ऐसा मानकर वेदका अर्थ करने लग जांय। इस प्रकार कुछ महत्त्वकी बातें इस नवम काण्डमें हैं जो विशेष महत्त्वकी होनेसे यहां पाठकोंके सन्मुख दुबारा रखी हैं।

अथर्ववेदका स्वाध्याय।

नवम काण्डकी विषयसूची।